

बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

संपादक

अशोक मिश्र

सहायक संपादक

अमित विश्वास



महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

बहुवचन

अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक
अंक: 36 (जनवरी-मार्च, 2013)

प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

संपादकीय संपर्क :

संपादक बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र)

मो. संपादक- 09422386554, ईमेल- amishrafaiz@gmail.com

मो. सहायक संपादक- 09970244359, ईमेल- amitbishwas2004@gmail.com

प्रकाशन प्रभारी : डॉ. बीर पाल सिंह यादव

E-mail: bpsjnu@gmail.com फोन: 07152-232943, मो. नं. 08055290240

© संबंधित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

प्रचार प्रसार एवं कंपोजिंग: रामप्रसाद कुमरे email: ram.kumre81@gmail.com

फोन : 07152-232943, मो. नं. 08055916194, 09406546762

बिक्री और प्रसार कार्यालय

प्रकाशन विभाग, **महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय**

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र) भारत

फोन: 07152-232943, फैक्स: 07152-230903

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट **महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय**, के नाम से, जो वर्धा में देय हो, ऊपर लिखित बिक्री कार्यालय के पते पर भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।

यह अंक: 50 रुपये, वार्षिक शुल्क 200 रुपये

विदेश में: हवाई डाक: एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड

समुद्री डाक: एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड

आवरण: अशोक सिद्धार्थ

BAHUVACHAN

A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI

PUBLISHED BY: MAHATMA GANDHI ANTARRASHTRIYA HINDI VISHWAVIDYALAYA,

GANDHI HILLS, POST- HINDI VISHWAVIDHYALAYA, WARDHA-442005 (MAHARASHTRA) INDIA.

मुद्रक: रुचिका प्रिंटेर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोन: 011-22821174, 9212796256)

E-mail: ruchikaprinters2005@gmail.com

अनुक्रम

| | |
|---|----|
| आरंभिक | 05 |
| वैचारिकी | |
| टैगोर और गांधी की भारत चिंता इंद्र नाथ चौधरी | 07 |
| विकास का वैकल्पिक मॉडल सच्चिदानंद सिन्हा | 25 |
| महाराष्ट्र नवजागरण कर्मदु शिशिर | 36 |
| कहानी | |
| प्रेमचंद की दुर्लभ कहानी : रक्षा में हत्या पुनर्प्रस्तुति: प्रदीप जैन | 45 |
| बहुरूपिया से.रा. यात्री | 51 |
| जन्मशताब्दी पर विशेष | |
| भवानी भाई और विष्णुजी राजेंद्र उपाध्याय | 59 |
| डायरी | |
| साहित्यिक पत्रकारिता का साधु संग्राम शिवनारायण | 64 |
| संवाद | |
| गांधी के रास्ते पर लौटना होगा सच्चिदानंद सिन्हा से शैलेंद्र कुमार सिंह की बातचीत | 74 |

| | |
|--|-----|
| स्त्री विमर्श को शरीर से ऊपर उठकर देखने की जरूरत है <i>शिवमूर्ति से राकेश मिश्र की बातचीत</i> | 83 |
| यात्रा वृत्तांत | |
| धरती पर स्वर्ग मन्नार <i>बलराम अग्रवाल</i> | 91 |
| कविताएं | |
| आग्नेय | 96 |
| उमेश चौहान | 100 |
| रमणिका गुप्ता | 107 |
| शशि नारायण स्वाधीन | 112 |
| रामविलास शर्मा की स्क्रेप बुक्स-2 <i>विजय मोहन शर्मा</i> | 117 |
| आलोचना | |
| शमशेर : एक कथात्मक लिरिकल कवि <i>शंभु गुप्त</i> | 125 |
| हिंदी का कथेतर गद्य <i>माधव हाडा</i> | 133 |
| मीडिया | |
| बाजार और मीडिया के बीच भारतीय भाषाएं <i>संजय द्विवेदी</i> | 150 |
| बात बोलेगी | |
| उपन्यास एक अशुद्ध कला है और आलोचना....? <i>संजीव</i> | 155 |
| हिंदी का दूसरा समय की रपट | |
| <i>ए.के. मिश्र</i> | 160 |

हिंदी का दूसरा समय

एक और साल यानी 2013 आ चुका है। सोचता हूँ साल दर साल तारीखें, साल, महीने, दिन बीतने और दीवार पर टंगा कैलेंडर बदलने से हमारे जीवन और समाज में भी क्या कुछ बदल रहा है? साहित्य की दुनिया कितनी बदली? जाहिर है कि इसका उत्तर तलाश पाना काफी कठिन काम है। आज भी हिंदी में एक लेखक के लिए क्या अपनी दर्जनों किताबों की रायल्टी से दो वक्त की दाल-रोटी जुटा पाना संभव है? जाहिर है कि बहुत मुश्किल है। दरअसल मेरे मन में सवाल उठता है कि साहित्य का अनाम पाठक आखिर कौन है, जिसके लिए हम सब अपनी रौं में लिखे जा रहे हैं या फिर सब कुछ मन को धोखा देने जैसा है।

नए साल का शुभारंभ इस बार अत्यंत महत्वपूर्ण और घटना प्रधान रहा। इस शुरुआत का उल्लेखनीय और गौरतलब प्रसंग रहा महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में 'हिंदी का दूसरा समय' का आयोजन। वर्ष 2009 में आयोजित 'हिंदी समय' के चार वर्ष उपरांत आयोजित इस प्रसंग में इस महादेश के दो सौ से अधिक विचारकों, लेखकों, कथाकारों, कवियों, आलोचकों एवं मीडिया, सिनेमा, रंगमंच, अनुवाद और स्त्री, दलित व आदिवासी चिंतन व अन्य अनुशासनों से जुड़े बुद्धिजीवियों ने हिस्सेदारी की।

'हिंदी का दूसरा समय' जिसको हम हिंदी के सबसे बड़े साहित्यिक-सांस्कृतिक महाकुंभ की संज्ञा दे सकते हैं। दिलचस्प तौर पर यह आयोजन प्रयाग में आयोजित महाकुंभ की वेला में संपन्न हुआ। पांच दिवसीय इस आयोजन में महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा का परिसर विविध सामयिक विषयों पर हुए विमर्श की उत्तेजना और

उष्मा से सराबोर रहा। विषय केंद्रित विभिन्न सत्रों में हुए विमर्श के दरम्यान प्रतिभागीगण चुनौतियों से रूबरू हुए और अनेक महत्वपूर्ण निष्पत्तियां सामने आईं। कभी सोच को समयानुरूप नये सांचे में ढालने की बात उठी, तो कभी रूढ़ सांचे को तोड़कर नया सांचा गढ़ने की जरूरत उभरकर सामने आई।

‘हिंदी का दूसरा समय’ का आयोजन बिला शक महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की स्थापना की संकल्पना से जुड़ा हुआ है। विश्वभाषा के तौर पर हिंदी का विकास वक्त की जरूरत है और चुनौती भी। उसके अपने तकाजे हैं, जिन्हें हम कभी नहीं काट सकते। ‘हिंदी का दूसरा समय’ के इस महती आयोजन को यकीनन बृहतर संदर्भों में देखा जाना चाहिए। दूसरी सहस्राब्दी की प्रथम वेला में हुआ आयोजन इस नाते भी उल्लेखनीय है कि यह हमारे जटिल समय में हिंदी की दशा की पड़ताल करने के साथ-साथ आगामी समय में हिंदी की नई दिशा का भी संकेत करता है।

इसी माह में हिंदी लेखकों का एक और जमावड़ा नेशनल बुक ट्रस्ट नई दिल्ली के सौजन्य से प्रगति मैदान में लगने वाला इक्कीसवां विश्व पुस्तक मेला (4-10 फरवरी) में हुआ, जिसे किसी साहित्यिक महाकुंभ से कमतर नहीं माना जा सकता। विश्व पुस्तक मेला अपनी शुरुआत से ही हिंदी के पाठकों और लेखकों के लिए अपनी रचनाशीलता की उपस्थिति दर्ज कराने का एक बड़ा मंच रहा है। मेले में निरंतर चलने वाली बहुविध गतिविधियां, संगोष्ठियां और नई किताबों के निरंतर होने वाले लोकार्पण लेखक को बाजार में खड़े होकर अपनी बात कहने का मौका देते हैं। इनकी अपनी सार्थकता भी है क्योंकि अगर हमें लिखना है तो पाठक तक पहुंचना ही होगा। हिंदी के रचनाकारों को यह मेला दूसरी तरह से मिलने-जुलने, गपियाने-बतियाने और कई संपादकों तथा आलोचकों से रूबरू होने का मौका भी प्रदान करता है। हिंदी में पाठकों की कमी का रोना रोने वाले कई प्रकाशकों के स्टाल पर उमड़ती और मनपसंद किताब ढूंढती युवाओं की भीड़ कहीं से भी इशारा नहीं करती कि किताबों का अस्तित्व खतरे में है। युवाओं की रुचि किन विषयों में है हमारे लिए यह समझना भी बहुत जरूरी है, जिसकी अनदेखी नहीं की जा सकती। यह अलग विषय हो सकता है कि इस हाहाकारी समय में जब कुछ लोग सब कुछ खत्म होने की बात कर रहे हैं, ऐसे में लगता है कि उम्मीद की किरण अभी भी बची हुई है। रामविलास शर्मा पर केंद्रित अंक को पाठकों का अपार स्नेह मिला उनके प्रति आभार। बहुवचन का नया जनवरी-मार्च, 2013 का अंक आपके समक्ष प्रस्तुत है। अंक कैसा लगा यह जरूर बताएं।

अशोक मिश्रा

टैगोर और गांधी की भारत-चिंता

इंद्र नाथ चौधुरी

रवींद्रनाथ टैगोर की मृत्यु की खबर मिलने पर जवाहरलाल नेहरू ने 7 अगस्त, 1941 को अपनी जेल डायरी में लिखा था- 'मैं विश्व के नाना स्थानों में नाना प्रसिद्ध व्यक्तियों से मिला हूँ, परंतु मेरे मन में, इसको लेकर कोई संदेह नहीं है कि विश्व के सर्वश्रेष्ठ दो व्यक्तियों से मिलने का, जो सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था, वे महात्मा गांधी और टैगोर थे। शताब्दी के चौथाई हिस्से के ये दो असाधारण व्यक्तित्व थे। समय की गति के साथ जब दुनिया के सारे जनरल और फील्ड मार्शल और तानाशाह व शोर मचाने वाले राजनेताओं की मृत्यु हो जाएगी और लोग उन्हें क्रमशः भूल जाएंगे, तब वे मेरी बात को स्वीकार करेंगे।'

आगे चलकर नेहरू ने लिखा था- 'परंतु यह आश्चर्यजनक बात है कि प्रज्ञा, विचार तथा संस्कृति के एक ही स्रोत से प्रेरणा ग्रहण करने वाले, इन दोनों में इतना साम्य होने के बावजूद, एक-दूसरे से इतना अधिक अंतर भी है। टैगोर और गांधी जैसे दो व्यक्तियों के बीच, इतना अंतर दिखाई देना कदाचित एक असाधारण घटना है।'

दोनों के बीच का विरोध मगर अपरिहार्य था। सन् 1915 में यह अव्यक्त था। जब 6 मार्च को दूसरी दफा गांधी शांति निकेतन आए थे, उनकी, तब सजातीय (किंड्रेड) आत्मा से मुलाकात हुई। दोनों यह जानते थे कि उनकी लड़ाई गुलाम देश की जनता के नैतिक उत्तरदायित्व से संबंधित एक समान आदर्श के लिए है।

कुछ सप्ताह पहले वे शांति निकेतन आए थे, तब टैगोर कलकत्ते में थे- विद्यार्थियों ने उनकी और उनकी पत्नी की काफी अच्छे तरीके से स्वागत और देखभाल की थी- गांधी ने अपनी प्रशंसा व्यक्त करते हुए बाद में कहा था – The teachers and students overwhelmed me with affection : The reception was a beautiful combination of simplicity, art and love.

6 मार्च को दूसरी दफा आकर उन्होंने कवि को, तब तक रवींद्रनाथ टैगोर वापस आ गए थे, छात्रावास की व्यवस्था में परिवर्तन करने की सलाह दी थी। (एक)- खाना परोसने और इकट्ठे बैठ के खाने में कोई जातिभेद नहीं होना चाहिए। (दो)- नौकरों पर आश्रित हुए बिना छात्रों और अध्यापकों को खाना पकाने से लेकर और सब कुछ काम स्वयं करना चाहिए।

कवि ने कहा मैं जाति भेद में विश्वास नहीं करता, परंतु छात्रों को उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई कुछ स्वीकार करने के लिए बाध्य भी नहीं कर सकता। गांधी ने उनकी दलील को स्वीकार नहीं किया था। गांधी के स्वावलंबन संबंधी आदर्श को स्वीकार करते हुए 10 मार्च से गांधी और कस्तूरबा के सामने यह प्रयोग शुरू हुआ, परंतु बहुत अधिक दिनों तक चल नहीं सका। यद्यपि प्रत्येक वर्ष 10 मार्च को शांति निकेतन में गांधी दिवस मनाया जाता है और उस दिन छात्रावास में नौकरों को छुट्टी दी जाती है तथा छात्र व अध्यापक छात्रावास में खाना पकाने से लेकर सारा काम करते हैं।

यहां यह सूचना देना अनावश्यक नहीं होगा कि 11 मार्च, 1915 में रंगून से वापस आकर साबरमती में गांधी ने अपने आश्रम की स्थापना की थी।

15 अप्रैल, 1919 के जलियांवाला हत्याकांड के बाद दोनों के बीच का विरोध खुल गया। जब Rowlatt Committee report 8 जुलाई, 1918 को प्रकाशित हुई थी, तब देश भर में उसका गहरा विरोध हुआ था, लोगों ने अपनी नाराजगी व्यक्त की थी। 23 मार्च, 1919 को रौलेट ऐक्ट पारित हुआ, तब गांधी ने इसको निरस्त करने के लिए प्रतिरोधी आंदोलन चलाने का निर्णय लिया। 30 मार्च को सारे देश में हड़ताल का ऐलान किया गया। दिल्ली में परिणामतः हड़ताल के समय उत्पात शुरू हुआ। 6 अप्रैल को गांधी ने एक और हड़ताल का ऐलान किया और, तब भी पुलिस और उपद्रवी, उत्तेजित भीड़ के बीच काफी अप्रिय झड़पें हुईं। गांधी, उस समय बंबई में थे और जब दंगों को रोकने दिल्ली के लिए रवाना हुए तो रास्ते में ही पुलिस ने, उन्हें रोक लिया और बंबई वापस भेज दिया गया।

10 अप्रैल, 1919 को पंजाब की सरकार ने पंजाब में मार्शल लॉ की घोषणा कर दी और अमृतसर को जनरल डायर के हाथ में सौंप दिया गया। 12 अप्रैल को टैगोर ने गांधी को एक खुली चिट्ठी लिखी, जो इंडियन डेली न्यूज़ में 16 अप्रैल को प्रकाशित हुई।

गांधीजी को महात्मा के नाम से संबोधित करते हुए टैगोर ने लिखा: 'शक्ति का हर रूप अबौद्धिक है। निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) का प्रयोग शक्ति के रूप में हो रहा है, जो हमेशा अपने में नैतिक नहीं होता। इसका प्रयोग सत्य के पक्ष और विपक्ष

दोनों ही स्थिति में किया जा सकता है। प्रत्येक शक्ति की ताकत में एक अंतर्निहित खतरा छिपा रहता है, और जब कोई शक्ति अधिक बलशाली हो जाती है और सफलता को चूमना शुरू करती है, तब वह प्रलोभन का रूप धारण करती है। मैं जानता हूँ, आपकी शिक्षा अच्छाई की सहायता से बुराई के विरुद्ध लड़ाई लड़ना है। इस तरह का युद्ध करना वीरों, नायकों का काम है ना कि किसी एक क्षणिक आवेग से प्रेरित होकर जनता का काम है। बुराई से स्वाभाविक रूप से बुराई पैदा होती है। अन्याय हिंसा के लिए प्रेरित करता है और अपमान प्रतिरोध की भावना को जन्म देता है। दुर्भाग्य से इस तरह का शक्ति प्रयोग शुरू हो चुका है। या तो आतंकित होकर अथवा क्रोध के वशीभूत होकर हमारे अधिकारीगण पंजों के नाखून दिखाना शुरू कर देंगे, जिसका निश्चित परिणाम होगा कि या तो हम में से कुछ विद्वेष के गुप्त रास्ते पर चल पड़ेंगे या दूसरे उत्साह भंग के शिकार बनेंगे।'

असहयोग आंदोलन के दौरान गांधी-टैगोर विवाद के इतिहास से संबंधित, यह सबसे पहला महत्वपूर्ण दस्तावेज है। यह पत्र 13 अप्रैल को घटित जलियांवाला हत्याकांड के एक दिन पहले लिखा गया था।

6 मार्च, 1915 के बाद गांधी टैगोर की दूसरी भेंट दिसंबर, 1917 में हुई थी, जब इंडियन नेशनल कांग्रेस के 32वें अधिवेशन में गांधी ने टैगोर की 'भारत की प्रार्थना' नामक एक कविता की आवृत्ति की थी:

'तुम्हारे नाम पर हम बल का विरोध करते हैं, जो हमारी आत्मा में अपना झंडा गाड़ना चाहता है
यह हम जान लें कि जो श्रृंखलाबद्ध होकर अपमान सहता है
उनकी आत्मा में तुम्हारा प्रकाश धुंधला जाता है
जब जीवन दुर्बल हो पड़ता है, तब बुजदिली में, वह असत्य के सिंहासन के प्रति अपने को समर्पित करता है।'

इस प्रार्थना को हम आसानी से गांधी की प्रार्थना कहके चला सकते हैं, जिन्होंने इसमें पुनर्संजीवित लोगों की आवाज सुन पाई होगी, जिसमें राष्ट्रीय आदर्शों की घोषणा है।

उसी वर्ष 1917 में टैगोर के जोड़ासांको भवन में गांधी, तिलक, मदन मोहन मालवीय तथा ऐनी बेसेंट की उपस्थिति में 'डाकघर' नाटक का, जिसमें टैगोर ने स्वयं फकीर की भूमिका निभाई थी, मंचन हुआ था। गांधी ने इस नाटक को देखने के बाद, इसकी प्रशंसा की हो या और कुछ कहा हो, उसका कोई लिखित रिकार्ड उपलब्ध नहीं है।

तीसरी दफा ये दोनों 2 अप्रैल, 1920 में अहमदाबाद में मिले थे, जहां गांधीजी ने स्वयं गुजराती साहित्य सभा के अधिवेशन में टैगोर को अध्यक्षता करने के लिए 18 अक्टूबर, 1919 और 14 जनवरी, 1920 को निमंत्रण दिया था। टैगोर 1 अप्रैल, 1920 को अहमदाबाद पहुंचे थे। 2 अप्रैल को उन्होंने अपना अध्यक्षीय भाषण दिया और फिर

साबरमती आश्रम में गए थे, जहां दूसरे दिन उन्होंने प्रातःकालीन प्रार्थना सभा में भाग लिया। गांधी-टैगोर की यह बैठक इस दृष्टि से महत्वपूर्ण थी कि, इससे पहले 30 मई, 1919 को गांधी ने अपना नाइटहुड वापस कर दिया था और इस बैठक के बाद अगस्त, 1920 में कैसर-ए-हिंद मेडल भी वापस कर दिया था। दोनों ही घटनाएं एक हृदयहीन ब्यूरोक्रेसी के विरुद्ध भारतीय अंतःकरण या विवेक की प्रतीकात्मक प्रतिवाद थीं। अहमदाबाद में गांधी-टैगोर वार्तालाप का कोई रिकार्ड नहीं है, परंतु हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि असहयोग आंदोलन को लेकर दोनों में लंबी बहस हुई होगी, दोनों में गहरी असहमति रही होगी, फिर भी एक-दूसरे के लिए जो सम्मान का भाव है, वह पहले जैसा ही बरकरार रहा होगा।

जो विरोध पहले 1915 में अव्यक्त था, वह 1919 में खुल गया और 1921 में वह जनता के सामने आ गया। जब असहयोग आंदोलन 31 अगस्त, 1920 में आरंभ हुआ, तब टैगोर यूरोप में थे। नाइटहुड वापस देकर ब्रतानिया के प्रति उन्होंने जो गैर-वफादारी की या राजभक्ति नहीं दिखाई, उससे इंग्लैंड के लोग उनके विरोध में चले गए थे। उनके भाषण के दौरान पोयेट लॉरेट राबर्ट ब्रिजेस ने बड़ी नम्रता के साथ अध्यक्षता करने से इनकार कर दिया था। यहां तक कि कैस, डिक्सेसन तथा ऐंडरसन केंब्रिज में, उनके मेजबान होने के बावजूद, उनसे कतराते रहे और ब्रिटिश होम ऑफिस ने उनके क्रियाकलापों पर ध्यान रखने के लिए एक जासूस की नियुक्ति भी की थी।

इंग्लैंड से फ्रांस पहुंचकर टैगोर ने एंज़ूज को पत्र लिखा था- 'पंजाब में डायरिज्म (Dyerism) को लेकर तुम्हारे पार्लियामेंट में जिस तरह की बहस हुई है और घमंड, अहंकार, हेकड़ी का, जिस तरह तिरस्कारपूर्ण प्रदर्शन हुआ तथा भारत को लेकर कठोर बात की गई, उससे मैं बहुत ही दुःखी हुआ हूं और इंग्लैंड छोड़ने पर मुझे काफी राहत मिली। यह चिट्ठी 13 अगस्त, 1920 को असहयोग आंदोलन के प्रारंभ होने के 18 दिन पहले लिखी गई थी।

विजय राघवचारी की अध्यक्षता में इंडियन नेशनल कांग्रेस का 35वां अधिवेशन दिसंबर, 1920 में आयोजित हुआ, जिसमें असहयोग आंदोलन के प्रस्ताव की पुष्टि कर दी गई जो कलकत्ते में इंडियन नेशनल कांग्रेस के एक विशेष सत्र में पारित हुआ था।

2 मार्च, 1921 में लंदन से टैगोर ने एंज़ूज को असहयोग आंदोलन के पक्ष में लिखते हुए कहा, 'आत्मोत्सर्ग हां यह उत्साह और कष्ट सहने की इच्छा, मैं आशा करता हूं, पूरी ताकत के साथ इसका विस्तार होगा। यह उपयुक्त ही है कि जो अपमानित भारत की जनता और असहाय, निर्बलों के अंदर छिपी हुई जो असीम शक्ति है, उसे महात्मा ने ललकारा है। भारत की यह नियति है कि उसने अपने सहयोग के लिए आत्मा की शक्ति का न कि शारीरिक बल का चुनाव किया है। भारत को, इस तरह मनुष्य के इतिहास के स्तर को कीचड़ से सने हुए पारस्परिक शारीरिक संघर्ष से ऊपर उठाकर उच्च नैतिक स्तर तक ले जाना है।' टैगोर को धीरे-धीरे यह एहसास होने लगा कि असहयोग आंदोलन के

द्वारा देश का उद्धार संभव नहीं है। उनकी पहली आपत्ति यह थी कि खिलाफत आंदोलन की तरह इसकी शुरुआत हुई है। दूसरी यह कि बड़े आकार में टैगोर रचनात्मक कार्य के पक्ष में थे, जिससे कि पोलिटिकल फ्रीडम के लिए सही जमीन तैयार हो सके।

वे शांति निकेतन में रचनात्मक कार्य का अपना हिस्सा निभाना चाहते थे, यही बात एंड्रूज को 03 अक्टूबर, 1920 को लिखे एक पत्र में जताई थी कि मैं शांति निकेतन को धूल-धूसरित राजनीति के चक्रवात से बचा के रखना चाहता हूँ। तीसरा, उन्हें इस बात का डर था कि असहयोग आंदोलन अहिंसात्मक नहीं रह पाएगा और बहुत जल्द अपव्ययी लोकप्रिय उन्माद क्रोध में बदल जाएगा।

मार्च, 1921 में टैगोर ने एंड्रूज को 3 पत्र (02 मार्च, 1921, 05 मार्च, 1921, 13 मार्च, 1921) लिखे, यह जताते हुए कि असहयोग आंदोलन हिंसा पर उतर आएगा। गांधी ने 4 जून, 1921 को 'यंग इंडिया' में टैगोर को आश्वस्त करते हुए लिखा कि असहयोग आंदोलन राष्ट्रवाद को वही अर्थ देना चाहता है, जो टैगोर को इच्छित है।

टैगोर ने इस पत्र का बहुत ही सोचा-समझा उत्तर बांग्ला में जनता के बीच दिए गए एक भाषण में 29 अगस्त, 1921 को कलकत्ते में दिया था, जिसका अंग्रेजी रूपांतरण अक्टूबर, 1921 में मॉर्डन रिव्यू में प्रकाशित हुआ और टैगोर के निबंध संकलन (Towards Universal Man 1961) में प्रकाशित हुआ। यह बांग्ला मूल की 'प्रवासी' पत्रिका में अक्टूबर, 1921 में प्रकाशित हुआ था और बाद में इसे 1937 में 'कालांतर' में संकलित किया गया।

यह असहयोग आंदोलन के विरुद्ध टैगोर का सबसे शक्तिशाली तथा विस्तृत वक्तव्य है। टैगोर ने एक सेट ऑफ फार्मूला, नुस्खों तथा औजारों के विरुद्ध एक प्रकार के क्लिष्ट सम्मोह (cramping obsession) का विरोध करते हुए कहा था कि यह देश के विकास को पीछे ढकेल सकता है। उनका कहना था: 'हमारे अधिनायक महात्मा के प्रति हमारी भक्ति में कोई कमी नहीं आनी चाहिए,' ताकि हम प्रेम की सत्यता में निहित उसकी संपूर्ण पवित्रता को समझ सकें, क्योंकि स्वराज के निर्माण की कला और विज्ञान बहुत ही विस्तृत हैं, इसके रास्ते बहुत ही कठिनाई से नापे जाते हैं और उसमें समय लगता है। इस काम के लिए प्रेरणा और आवेग की आवश्यकता है परंतु साथ ही ज्ञान और विचार की भी उतनी ही आवश्यकता है। इसके लिए अर्थशास्त्री को सोचना है, कारीगर को मेहनत करनी है, शिक्षाविद् और राजनीतिवेत्ताओं के वक्तव्यों से प्रबंधन की सीख लेनी है। एक शब्द में देश की आत्मा को अविकल, अखंड तथा अबाधित रखना है, उसकी आत्मा को खुली या गोपनीय बाध्यता के द्वारा निष्क्रिय और बुजदिल नहीं बनाना है।'

गांधी के द्वारा चरखा के प्रचार, विदेशी वस्त्र की होली तथा अंग्रेजी शिक्षा के विरोध में वक्तव्य तथा राजा राममोहन की 'यंग इंडिया' में 27 अप्रैल, 1921 में आलोचना (अल्पबुद्धि, बौना कहना) करने पर टैगोर ने, उसका उत्तर एंड्रूज को लिखे दो पत्रों में दिया। पत्रों का सार निम्नलिखित है:

- 1) चरखा मनुष्यों के बौद्धिक विकास में सहायक नहीं है। यह विवेक और परिश्रम का कोई विकल्प नहीं है- सफलता की कुंजी विवेकपूर्ण कठोर परिश्रम है। इस तरह के एक विचार के साथ आम जनता को संबद्ध करने से कुछ लाभ होने वाला नहीं है। हमारी गरीबी एक जटिल वस्तुस्थिति है, चरखे से सूत कातने और वस्त्र बुनने से गरीबी की समस्या हल नहीं हो पाएगी। हमारी गरीबी सूत के अभाव से नहीं, हमारी प्राणशक्ति और एकता के अभाव के कारण है।
- 2) विदेशी वस्त्र की होली के बारे में उनका कहना था कि गरीब जनता के पास जो थोड़ा कुछ है उसके सम्मान और जीवन धारण के लिए, उसका विसर्जन करने के लिए कहना अनुचित है। मेंचेस्टर के वस्त्र को खरीदना या न खरीदना अर्थशास्त्र का मामला है। गांधीजी का उत्तर था विदेशी वस्त्रों को जलाकर मैं अपनी लज्जा को जताता हूँ, फिर ऐसा कोई अर्थशास्त्र जो व्यक्ति और देश के कुशल-मंगल के लिए खतरा है, उसे अनैतिक और पापपूर्ण कहना ही ठीक है।
- 3) गांधीजी ने निश्चय ही राजा राममोहन राय को पिग्मी, अल्पबुद्धि बौना कहा था। (xix खंड, पृ. 476-48) आगे चलकर उन्होंने इस अपशब्द को हटा दिया था। (xx खंड, पृ. 42-43) फिर भी अपने सिद्धांत पर अटल रहते हुए उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा का विरोध किया। टैगोर ने ज्यूरिख से 10 मई, 1921 को एंड्रूज को एक पत्र में लिखा था कि गांधी गलत सोचते हैं कि राजा राममोहन राय के अंग्रेजी ज्ञान के आधिक्य के कारण भारत के बारे में उनका अल्प ज्ञान था। इसके विपरीत बहुविस्तीर्ण बोध शक्ति के कारण ईसाई, हिंदू तथा इस्लाम की मूलभूत एकता का उन्हें अनुभव था इसलिए संपूर्ण सत्य पर आश्रित राजा राममोहन राय भारत के सही प्रतिनिधि हैं। उनकी शिक्षा भारतीय है लेकिन पश्चिम को स्वीकार करने में उन्हें कोई बाधा नहीं थी। वे पश्चिम के स्कूल के विद्यार्थी नहीं हैं, इसलिए सम्मान के साथ पश्चिम के मित्र बन सके हैं।

गांधी का प्रत्युत्तर, उनके द्वारा लिखा गया सबसे सुंदर उत्तर था। 13 अक्टूबर, 1921 को The Great Sentinel शीर्षक से 'यंग इंडिया' में प्रकाशित हुआ- 'सत्य और विवेक के पक्ष में खड़े होने पर कवि देश की जनता के धन्यवाद के पात्र हैं। मैं कवि को देश का प्रहरी (Sentinel) मानता हूँ जो कट्टरता, आलस्य, असहनशीलता, निष्क्रियता और इसी तरह के दूसरे शत्रुओं के बारे में हमें लगातार सचेत करते रहते हैं।'

मगर इस पत्र में उन्होंने असहयोग आंदोलन, चरखा तथा खादी का पुरजोर समर्थन किया और अंत में लिखा: 'कबीर के एक गीत के द्वारा किसी मरीज की वेदना को शांत करना मेरी दृष्टि में असंभव है, लाखों भूखी जनता एक शक्तिवर्धक खाद्यरूपी कविता की मांग करती है।'

टैगोर-गांधी के मध्य 1921 में हुई विवादास्पद बहस का टैगोर ने कलकत्ते में यूनिवर्सिटी इंस्टीट्यूट में दिए गए एक भाषण- 'सत्य की पुकार' में उत्तर दिया। उन्होंने

कहा- 'सुबह जब पक्षियों की नीड टूटती है तब उनका जगना केवल आहार ढूँढने के लिए नहीं होता है। उनके दो अथक पंख आकाश का निमंत्रण स्वीकार करते हैं और प्रकाश के आगमन पर उनके मन में गीत फूट पड़ता है और तब विश्व मानव की चेतना हमारी चेतना को दस्तक देती दिखाई देती है।'

महात्मा गांधी ने 'यंग इंडिया' में इसका उत्तर देते हुए लिखा- 'कि सुबह नीड खुलने पर जो पक्षी उड़ना चाहते हैं, उनको गौर से देखने पर पता लगेगा कि आहार के अभाव में शक्ति की कमी होने के कारण कोशिश करने पर भी, उनके पंखों में उड़ान भरने की ताकत पैदा करना संभव नहीं होता।'

बंबई में 17 नवंबर, 1921 में दंगे फैलने के कारण गांधीजी ने नवंबर, 1921 में बरदौली में 'नो टैक्स' सत्याग्रह पर रोक लगा दी थी। यह दंगा उस दिन फैला था, जिस दिन 'Prince of Wales' भारत पहुंचे थे, उसी वर्ष, दिसंबर, 1921 में कांग्रेस के 36वें अधिवेशन में सत्याग्रह आंदोलन को दोबारा शुरू करने का निर्णय लिया गया। इस पर रवींद्रनाथ को अचंभा हुआ था, उनके मन में डर था कि फिर से दंगे शुरू हो जाएंगे। 1 फरवरी, 1922 को एक प्रसिद्ध गुजराती लेखक कवि नानालाल (दलपतराम) को खुली चिट्ठी लिखकर कहा- 'मैं साधक रूप में अहिंसा की क्षमता में विश्वास करता हूँ, जिसके सहारे एकत्रित समूची शारीरिक शक्ति का विरोध किया जा सकता है, जिस पर विश्व के सारे देशों की शक्ति आधारित रहती है, परंतु सारे नैतिक आदर्शों के अनुरूप अहिंसा को मन की गहराई से प्रस्फुटित होना है और उसको एक अत्यधिक आवश्यक तत्व कहते हुए अपील के द्वारा दूसरों पर थोपा नहीं जा सकता।'

यह चिट्ठी 3 फरवरी, 1922 को प्रकाशित हुई। 4 फरवरी को क्रुद्ध जनता के द्वारा चौरीचौरा (गोरखपुर) में 21 भारतीय पुलिस कर्मियों और एक चौकीदार की हत्या कर दी गई- गांधीजी ने इसी कांड को- 'The bitterest humiliation and a Himalayan miscalculation' नाम दिया था। 12 फरवरी को कांग्रेस समिति की बैठक में चरखा तथा समाज-सुधार और ग्राम पुनर्निर्माण के रचनात्मक कार्यक्रम की योजना बनाई गई।

यह कांड घटित होने के लगभग 6 साल पहले 1916 में 'घर और बाहर' नाम से टैगोर ने एक उपन्यास लिखा था, जिसमें देशभक्ति और मानवतावाद की विचारधाराओं के बारे में कवि गुरु के स्पष्ट वक्तव्य हैं। उपन्यास के मूल दो चरित्रों संदीप और निखिल में से एक निखिल कहता है- 'जब भी आप अन्याय को कर्तव्य के रूप में आंकते हैं और अनैतिकता को नैतिक आदर्शों की तरह तब मेरे मन को गहरा धक्का पहुंचता है।'

जैसा पहले कह चुका हूँ टैगोर और गांधी के बीच का विरोध अपरिहार्य था। अपरिहार्य कहता रहा हूँ, परंतु मेरे लिए यह एक पहली है, क्योंकि वस्तुस्थिति दोनों के बीच के घोर विरोध के साथ उनके बीच की समान चिंता धारा को भी उजागर करती है।

बीसवीं सदी के भारत की इन दो महान विभूतियों की विचारधारा में समानता और वैषम्य का जो इतिहास भारतीय रंगभूमि में उद्घाटित हुआ था, वह हमारे मन की

पहेली को सुलझाने के स्थान पर और भी अधिक जटिल बना डालता है। कदाचित् इसीलिए, इन दोनों के बीच की एकता और विभेद हमारे लिए एक अबूझ पहेली होते हुए भी, इतना आकर्षक है कि हमें यह भूलने से काम नहीं चलेगा कि दोनों ही आध्यात्मिक सहयोगी के समान भारतीय जनता को पुनर्जीवित करने के समान उद्देश्य को लेकर चले थे।

रोमां रोला इन दो व्यक्तियों के अंतर से मंत्रमुग्ध थे। गांधी पर लिखी गई, उनकी पुस्तक समाप्त होने के बाद मार्च, 1923 में एक भारतीय शिक्षाविद् को लिखा था- 'मैंने गांधी पर पुस्तक समाप्त की है उसमें मैंने आप लोगों की दो नदी-सदृश आत्माओं, टैगोर और गांधी को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है। मुझे इन दोनों में परम आत्मा की दिव्यता का निरंतर प्रवाह दिखाई पड़ता है।'

अप्रैल, 1923 में रोमां रोला ने अपनी डायरी में अंग्रेज पादरी तथा Public activist सी.एफ. एंड्रूज के द्वारा लिखे गए, इन दो व्यक्तियों के बीच के अंतर को रिकार्ड किया था। सी.एफ. एंड्रूज इन दो व्यक्तियों के काफी नजदीकी मित्र थे। एंड्रूज की उपस्थिति में उन्होंने टैगोर और गांधी के बीच नाना विषयों को लेकर हुए वार्तालापों में जो अंतर उभरकर सामने आया उसका हवाला देते हुए जो कहा था, उसमें पहला था मूर्तिपूजा, गांधी इसके पक्ष में थे। उनका मानना था कि अमूर्त विचार को समझना आम जनता के लिए कठिन है। टैगोर के लिए यह असहनीय था कि मनुष्यों के साथ चिरंतन काल से बच्चों की तरह बर्ताव किया जाए।

गांधी के द्वारा, झंडे को मूर्ति रूप में स्वीकार करते हुए यूरोप में क्या कुछ बड़ी उपलब्धियां प्राप्त नहीं की, इसका हवाला देने पर टैगोर ने उसका विरोध किया परंतु गांधी अपनी बात पर अड़े रहे।

दूसरा मुद्दा राष्ट्रवाद था- गांधी राष्ट्रवाद के पक्षधर थे, उनका कहना था Nationalism के रास्ते आप Internationalism तक पहुंच सकते हैं, बिल्कुल, उसी तरह युद्ध के बीच से गुजरकर ही, शांति तक पहुंचा जा सकता है।

टैगोर राष्ट्रवाद के पक्ष में नहीं थे क्योंकि उनकी सोच थी कि इससे हिंसा का प्रसार होता है इसलिए नेशन-स्टेट से जुड़ा राष्ट्रवाद उनके लिए अनुचित (illegitimate) बन गया। गांधी ने राष्ट्रवाद के विचार का त्याग नहीं किया। अपनी राष्ट्रवाद की धारणा में उन्होंने राष्ट्रवाद की आलोचना (Critic of nationalism) को जोड़ दिया।

समय की गति के साथ दोनों के लिए अंततः भारतीय स्वाधीनता संग्राम मात्र राष्ट्रीय दृष्टीकरण की अभिव्यक्ति नहीं रहा और वह आंदोलन राजनीतिक न्याय और सांस्कृतिक मर्यादा की प्राप्ति के लिए वैश्विक संघर्ष का प्रतीक बन गया। आंदोलन ने निर्वैयक्तिक आलोचनात्मक भारतीय राष्ट्रवाद (Unself-critical Indian nationalism) का रूप धारण कर लिया, जो मूलतः पश्चिमी साम्राज्यवाद के प्रति इन दो व्यक्तियों का जवाब था।

इन विभेदों में, मेरा तर्क है, एक सुसंगत पैटर्न (Consistent pattern) दिखाई पड़ता है। टैगोर तर्क-बुद्धि, विवेक को अधिक महत्व देते हैं और उसके लिए अधिक स्थान चाहते हैं परिणामतः पारंपरिक दृष्टि को कम स्थान देना चाहते हैं। दूसरी दुनिया के साथ संपर्क का विस्तार चाहते हैं और विज्ञान तथा विषयनिष्ठता को अधिक महत्व देना चाहते हैं।

महात्मा गांधी के Collected works XX में संकलित असहयोग आंदोलन के विरुद्ध, उनके द्वारा लिखे गए पत्र का हवाला देकर रवींद्र और गांधी के बीच के अंतर को प्रकट किया जाता है, जिसमें रवींद्र ने असहयोग आंदोलन की निंदा करते हुए लिखा था- 1. यह मात्र तपश्चर्या (Asceticism) है। 2. डरावनापन (Orgy of frightfulness) का रहस्यानुष्ठान है, जो निरर्थक तबाही (Unmeaning devastation) पर निःस्पृह-निःस्वार्थ आनंद प्राप्ति है। 3. यह एक ऐसा संघर्ष है जिसमें दिल और मन से हम पश्चिम के विरुद्ध हो जाएं, के संकेत हैं। 4. यह एक आध्यात्मिक आत्महत्या है। ये सारे अंतर के मुद्दे लगातार उद्धृत किए जाते हैं, जिससे कि उनके बीच भारत के उज्ज्वल भविष्य के लिए चुने गए रास्ते को लेकर मूल असहमति को प्रकट किया जा सके। 5. गांधी के एजेंडा के दूसरे केंद्रीय मुद्दों के प्रति भी टैगोर के मन में काफी संदेह था। मूलतः गांधी के आदेश के प्रति, उनका प्रबल संदेह था कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी दिनचर्या के एक हिस्से के रूप में चरखा कातने का काम करेंगे।

टैगोर के लिए यह समझ के बाहर था कि कोई व्यक्ति जो दूसरे कामों के लिए उपयुक्त है, वह क्यों चरखा कातेगा और फिर चरखा के चाक को घुमाने के साथ-साथ कोई नई विचारधारा की उत्पत्ति नहीं होती- वह एक उबाऊ काम है।

रवींद्रनाथ जानते थे कि वे भारत को राजनीतिक नेतृत्व नहीं दे सकते जो गांधीजी ने दिया था और गांधीजी ने जो देश को दिया था, उसकी प्रशंसा करते थकते नहीं थे।

टैगोर ने गांधी को महात्मा की उपाधि दी थी, फिर भी दोनों एक-दूसरे के प्रति कई मुद्दों पर काफी आलोचनात्मक रुख रखते थे। दोनों ने ही दो अलग-अलग (Self-images) स्व-प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की थी। 'एक तरफ लंगोट पहने हुए तपस्वी योगी, दूसरी तरफ ईश्वरीय सौंदर्ययुक्त कवि। गांधी का मूल उद्देश्य नैतिक यूटोपिया की स्थापना थी तो टैगोर जीवन के नाना वैभवों के अनुष्ठाता थे। एंड्रयू रॉबिंसन तथा कृष्णा दत्त का कहना है कि एक तपस्वी तो दूसरा सौंदर्य उपासक। एक उपयोगितावादी व्यावहारिक तो दूसरा कलाकार। एक कर्मठ तो दूसरा चिंतक व्यक्तिवादी। एक राजनयिक तो दूसरा विशिष्टवर्गीय। एक narrow-read दूसरा widely read। एक पारंपरिक, तो दूसरा आधुनिक। एक विज्ञान विरोधी तो दूसरा विज्ञान विश्वासी। एक भारत भक्त तो दूसरा पूर्व-पश्चिम के समन्वय का पक्षधर। एक घर में बैठने वाला तो दूसरा विश्व यात्री। एक बंगाली तो दूसरा गुजराती। एक ब्राह्मण तो दूसरा व्यापारी वैश्य। एक दाढ़ी बालवाला सुंदर वस्त्रधारक, तो दूसरा खद्वर लंगोटधारी गंजा सिरवाला। वस्तुतः इस तरह के चिंतन तथा विश्वदृष्टि के

अंतर के अतिवादी वर्णन के कारण उनके बीच की एकता के प्रति हमारे ध्यान का बंट जाना स्वाभाविक है।

हमें मालूम है कि जब गांधी ने ट्रान्सवाल में अपने फोनिक्स स्कूल को बंद कर दिया तो उन्होंने अपने 20 विद्यार्थियों को गुरुकुल, हरिद्वार में भेज दिया था। एंड्रूज से इसकी खबर मिलते ही, टैगोर ने एंड्रूज से विद्यार्थियों को शांति निकेतन भेजने को कहा। जब ये छात्र शांति निकेतन पहुंच गए तो टैगोर ने अपना सबसे पहला पत्र गांधी को लिखा- 'जब आपने अपने फोनिक्स के छात्रों को उनके भारत प्रवासकाल में मेरे विद्यालय में भेजने का निर्णय लिया तो मुझे यह वास्तविक प्रीतिकर लगा और यह प्रीति इन बच्चों को देखने के बाद और भी अधिक बढ़ गई। मुझे आशा है इन छात्रों का मूल्यवान प्रभाव मेरे छात्रों पर पड़ेगा और इसी तरह ये छात्र हमारे छात्रों से लाभान्वित होंगे, जिससे कि शांति निकेतन में उनका रहना लाभदायक सिद्ध होगा। मैं यह पत्र आपको धन्यवाद देने के लिए लिख रहा हूं कि आपने अपने बच्चों को हमारे बच्चे बनने की अनुमति दी और इस तरह हमारे जीवन की साधना में एक जीवंत संबंधों की स्थापना की।'

यह पत्र अपने आप में इन दोनों के बीच के संबंधों का एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है। हम यह मानकर चलेंगे कि यह पत्र टैगोर जिस समय लिख रहे थे, उस समय तक गांधी के साथ अफ्रीका में ब्लैक एक्ट ऑफ ट्रान्सवाल (Black Act of Transval) के विरुद्ध आंदोलन और Boer war में Indian Ambulance Corps के सदस्य और Zulu विद्रोह में Sergeant Major के रूप में काम का पता टैगोर को लग चुका था।

टैगोर ने तब तक निश्चय ही गांधी के 'हिंद स्वराज' को पढ़ लिया होगा।

साथ ही इसमें काफी संदेह है कि उस समय तक गांधी को टैगोर के बारे में कितना पता लगा होगा। उनके कठिन राजनीतिक जीवन में ठोस साहित्य अध्ययन के लिए समय कम मिलता होगा। हो सकता है कि उन्होंने अंग्रेजी 'गीतांजलि' का अध्ययन किया हो, जिसके लिए टैगोर को 1913 में नोबेल पुरस्कार मिला था, परंतु यह निश्चित ढंग से एक अभिलिखित दस्तावेज (Recorded document) के आधार पर कहा जा सकता है कि गांधी ने टैगोर का सबसे पहले उल्लेख 18 फरवरी, 1914 को गोपाल कृष्ण गोखले को भेजे गए एक तार में किया था, जिसमें केपटाउन में टैगोर पर दिए गए सी.एफ. एंड्रूज के भाषण का हवाला देते हुए कहा गया था कि केपटाउन में उच्च भारतीय जीवन तथा विचारधारा का गहरा स्वागत होता है, जिसका प्रतिनिधित्व टैगोर करते हैं।

उस दिन गोपाल कृष्ण गोखले को भेजे गए एक और तार में गांधी ने एंड्रूज के द्वारा दिए गए भाषण के बाद गवर्नर जनरल की टिप्पणी का उल्लेख करते हुए लिखा था कि-गवर्नर जनरल के अनुसार टैगोर का व्यक्तित्व भारतीय कल्पना से संबद्ध राष्ट्रीय जीवन की गहरी अभिव्यक्ति है।

27 मार्च, 1914 नटाल से गांधी ने महात्मा मुंशीराम को लिखे गए पत्र में मुंशीराम, सेंटर स्टीफेंस के प्रिंसिपल रुद्र तथा टैगोर के प्रति एंड्रूज के आभार का उल्लेख किया था। (गांधी साहित्य, XII खंड)

8 अगस्त, 1914 को लंदन में आयोजित एक समारोह में गांधी ने एंड्रूज के गुरु टैगोर का उल्लेख करते हुए कहा कि मुझे एंड्रूज से The poet saint of Bolpur के बारे में जानने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

इस समय तक, गांधी की टैगोर की रचनाओं में रुचि पैदा हो गई थी, क्योंकि प्रथम महायुद्ध के दौरान Indian Ambulance Corps के Dr. James Gentile को उन्होंने टैगोर के साहित्य का एक सेट भेंट में दिया था। यह उन्होंने 1 अक्टूबर, 1914 को आयोजित एक आम सभा की अध्यक्षता करते हुए किया था, जिसमें आगा खां, कस्तूरबा, सरोजिनी नायडू, अमीर अली तथा कालेनबाक (Kallenbach) मौजूद थे।

मगनलाल गांधी को 4 दिसंबर, 1914 को लिखे गए एक पत्र में गांधी ने लिखा था: 'Out of respect for Gurudev and by way of inducement to you all, I have started study of Bengali in my bed.'

मगर टैगोर आध्यात्मिक दृष्टि से गांधी के साथ 1915 में लिखे गए उनके पहले पत्र के बहुत पहले से जुड़ गए थे।

1. जब गांधी ट्रांसवाल के ब्लैक एक्ट के विरुद्ध 1906 में सत्याग्रह कर रहे थे, तब टैगोर कलकत्ते में 1905 के बंगाल विभाजन के विरोध में शुरू आंदोलन में हिस्सा ले रहे नौजवानों व बच्चों के लिए गीत और भाषण लिख रहे थे, जो सड़कों पर लंकाशायर में तैयार वस्त्र को जलाकर होली खेल रहे थे।

2. दोनों एक दुःखद उपनिवेशवादी परिस्थिति में जनता के सम्मान को अक्षुण्ण रखने के काम में व्यस्त थे। एक लीडर और प्रवर्तक (Initiator) था। दूसरा कवि और चिंतक था।

3. जब गांधी ने ट्रांसवाल में उनके राजनीतिक सहयोगियों के अतिवाद (Extremism) का विरोध किया था, तब टैगोर ने भारत में स्वदेशी आंदोलन से संबद्ध हिंसा का विरोध किया था। गांधी की उनके क्लारेंट मीर आलम ने पिटाई की थी, जब गांधी स्मट्स से सहयोग करने के लिए तैयार हो गए थे और टैगोर का बंगाल में बड़ी संख्या में, लोगों ने विरोध किया था, जब उन्होंने राजनीति में नियंत्रण की मांग की थी।

4. दोनों ही नैतिक पुनरुत्पादन (Moral regeneration) के पक्षधर थे और उसी के आधार पर राजनैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति की संभावना को स्वीकारते थे।

दोनों ने विद्यालयों की स्थापना की, जिससे कि नवयुवकों के लिए विकसित होते हुए समाज के नए कार्यों में सही भागीदारी संभव हो सके।

मगर दोनों के बीच जो चोंकाने वाला सा दृश्य है वह यह कि गांधी ने 1909 में 'हिंद स्वराज' की रचना की तो टैगोर ने भी, उसी वर्ष 'प्रायश्चित' के नाम से एक नाटक

लिखा, जिसमें गांधी के अहिंसात्मक नागरिक सविनय अवज्ञा (Nonviolent Civil disobedience) तथा नो-टैक्स अभियान का पूर्वाभास मिलता है। उनके उपन्यास 'बौठाकुरानी का हाट' (1883) का यह नाट्यकरण था। मगर स्वदेशी आंदोलन के असंयम अतिरेक के प्रति टैगोर की प्रतिक्रिया के संदर्भ में इसकी राजनैतिक तथा नैतिक विषयवस्तु का गहरा महत्व है। कवि के अपने विचारों के प्रवक्ता के रूप में निर्मित, नाटक का एक पात्र, धनंजय वैरागी मूलतः गांधी का आदिरूप (prototype) है, एक भिक्षुक है, मगर साथ ही एक लोकप्रिय नेता जो टैक्स (महसूल) देने का विरोध करता है और लोगों को टैक्स देने से रोकता है क्योंकि, उसके अनुसार भूखी प्रजा से टैक्स की उगाही का राजा को कोई अधिकार नहीं है।

वह एक अहिंसात्मक सज्जन भद्र विद्रोही है जो अनुचित कानून का अपने साहसपूर्ण अवज्ञा के द्वारा विरोध करता है और आशा करता है कि अत्याचारी तानाशाह के हृदय को बदला जा सकेगा। यह नाटक अपने निंदकों के प्रति टैगोर का उत्तर था जो यह मानते थे कि स्वदेशी आंदोलन के असंयमित अतिरेक का टैगोर के द्वारा खंडन एक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय कार्य का दुर्भाग्यपूर्ण खंडन है। यह नाटक 1909 के प्रारंभ में प्रकाशित हुआ जो कि 1908 में किसी समय लिखा गया था और 'हिंद स्वराज' 1909 के अंत में लिखा गया था, परंतु हम यह अनुमान कर सकते हैं कि दक्षिण अफ्रीका में गांधी की गतिविधियों से टैगोर परिचित थे।

नैतिक प्रेरणा के आधार पर लिखे गए इस नाटक में धनंजय वैरागी की नैतिक प्रकृति और एक तानाशाही शासन के विरुद्ध एक लोकप्रिय आंदोलन का दर्शन गांधी के सत्याग्रह की भावना (Spirit) के अनुकूल था।

गांधी ने Indian opinion में एक लेख- 'Who can offer satyagraha' जो मई, 1909 में गुजराती में लिखा था- 'The first thing necessary for a Satyagrahi, is pursuit of truth, faith in truth.'

टैगोर की यही धारणा थी कि इस सत्य का जन आंदोलन में कहीं अधिक वास्तविक महत्व है। राजनीतिक शोर-शराबा या राजनीतिक आंदोलन की अपेक्षा धनंजय वैरागी जन आंदोलन में आवश्यक इस नैतिक बल की प्रतिमूर्ति है। धनंजय वैरागी सविनय अवज्ञा की अवधारणा के अग्रदूत के समान हमारे सामने उपस्थित होते हैं, जो आंदोलन 20वीं शती में बहुत ही द्रुत गति से देश में प्रसारित हुआ था।

बाद में टैगोर ने संरचना तथा शैली की दृष्टि से 'प्रायश्चित' से कहीं अधिक महत्वपूर्ण नाटक 'मुक्तधारा' (1922) की रचना की, जिसमें गांधीवादी आदर्शों के प्रति टैगोर ने बहुत ही तात्पर्यपूर्ण अभिव्यक्ति की जो, अहिंसात्मक आंदोलन की अभिव्यक्ति थी।

'प्रायश्चित' के धनंजय वैरागी से कहीं अधिक शक्तिशाली पात्र इस नाटक का धनंजय वैरागी है। वह यहां वही बात कहता है, जो गांधी का वक्तव्य रहा है। जब उसका

एक अनुगामी गणेश कहता है कि- वह जानता है कि प्रतिपक्ष विरोधी की कैसे पिटाई की जाती है तो धनंजय Non-beating की अधिक शक्ति का उसे एहसास कराता है: 'धनंजय: आघात नहीं करना, किसे कहते हैं वह दिखा नहीं सकता? उसमें ताकत ज्यादा लगती है क्या? लहरों को थपेड़ा मारने से लहरें रुकती नहीं, पतवार को स्थिर पकड़े रहने से लहरों पर विजय पाई जा सकती है।

गणेश: तो फिर क्या करने को कहते हैं।

धनंजय: आघात को ही जड़ से काटो, हिंसा पर विजय पाओ।

गणेश: यह कैसे संभव है प्रभु।

धनंजय: सिर ऊंचा करके जैसे ही कह पाओगे कि आघात का मेरे पर कोई असर नहीं, तभी आघात की जड़ कट जाएगी।

गणेश: आघात करने पर आघात नहीं लग रहा है, कहना कठिन है।

धनंजय: जो असली मनुष्य है, उसे आघात नहीं लगता क्योंकि वह स्वयं आलोक शिखा है, जानवर तो मांसपिंड है, उसे आघात लगता है और वह रिरियाता-चीखता है।'

प्रश्न तब यह है कि टैगोर ने अहिंसात्मक आंदोलन का विरोध क्यों किया, जब वे स्वयं इसके गंभीर व्याख्याता थे, इसका एक उत्तर नाटक में ही मिल जाता है, जब धनंजय अहिंसा के आदर्श की व्याख्या करता है और यह अनुभव करता है कि उसके श्रोता उसे समझ नहीं पा रहे तब धनंजय कहता है:

धनंजय: अवाक होकर क्यों खड़ा है, मेरी बात समझ नहीं पा रहा है।

गणेश: हम तो तुम्हें ही समझते हैं, तुम्हारी बात भले ही न समझ में आए।

धनंजय: तब तो सर्वनाश हो जाएगा।

गणेश: बात समझने में समय लगता है और समय बीत जाता है, हम तुम्हें समझ चुके हैं और उसी से हम जल्दी ही तर जाएंगे।

धनंजय: जल्दी ही! क्या कहते हो, जब शाम को किनारे पर आकर तुम्हारी नाव डूबने को होगी, तब यदि मेरी बात को अपनी बात मानकर अपना नहीं लोगे तो तुम डूबोगे ही।

गणेश: यह बात नहीं कहो, प्रभु, हमने तुम्हारे चरणों में शरण ली है तो निश्चय ही हम किसी न किसी तरीके से तुम्हें समझ चुके हैं।

धनंजय: तुम मुझे समझ नहीं पाए हो, यह मेरे लिए स्पष्ट है। तुम्हारी आंखें लाल हैं, तुम्हारे होंठों पर कोई गीत नहीं- डरपोक या तो तुम मार खाने के डर से भागते हो या फिर मार से बचने के लिए भागते हो, यह दोनों एक ही चीज हैं- जो भी तुम करते हो उससे तुम पशुओं के समूह के अनुगामी बन जाते हो, पशुपति से तुम्हारा कभी मिलन नहीं होता।'

‘मास्टर का सब सम्मान करते हैं, परंतु उसके अनुगामी उसे समझते नहीं हैं, जिनकी आंखें अभी भी लाल हैं जो मेषों के समूह का अनुगमन करते हैं, परंतु मेषपाल का नहीं।’

टैगोर की अहिंसा की विचारधारा का यह सार है जिसको लोकप्रिय आंदोलन का आधार माना है। यह याद रखना आवश्यक है कि यह नाटक टैगोर-गांधी की चौथी बैठक सितंबर, 1921 के बाद लिखा गया था जब गांधी-टैगोर के मन परिवर्तन के लिए, उनसे मिलने आए थे- दोनों के बीच क्या बात हुई, इसका कोई रिकार्ड नहीं है। दोनों में फासला बना रहा परंतु दोनों के बीच की असहमति का, उनके बीच के गहरे प्रेम संबंधों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

4 दिसंबर, 1922 को टैगोर साबरमती आश्रम में आए थे, जब गांधी जेल में थे- जो संक्षिप्त भाषण उन्होंने वहां दिया था, वह 21 दिसंबर, 1922 के ‘यंग इंडिया’ में प्रकाशित हुआ।

टैगोर ने गांधी के प्रति गहरे सम्मान भाव को प्रकट करते हुए भी असहयोग आंदोलन को अपव्ययपूर्ण तथा खतरनाक कहा।

टैगोर गांधी के साथ उनके मतभेदों को लेकर काफी दुःखी थे, परंतु जब गांधी के प्रति उनका व्यक्तिगत सम्मान भाव सबसे अधिक गहरा था, तब भी चरखा और असहयोग आंदोलन के विरुद्ध उनकी विचारधारा को वे बदल नहीं पाए। सितंबर, 1925 में चरखा के बारे में माडर्न रिव्यू में उन्होंने लिखा था- ‘यह मेरे लिए बहुत ही अशोभनीय है कि मैं महात्मा गांधी से किसी सिद्धांत या पद्धति को लेकर असहमति प्रकट करूं। ऐसी बात नहीं कि किसी उच्च दृष्टिकोण से ऐसा करना कोई गलत काम है, परंतु ऐसा करने से मेरा मन बैठ जाता है, क्योंकि इससे बढ़कर क्या बात हो सकती है कि मैं किसी ऐसे व्यक्ति के साथ कार्य क्षेत्र में हाथ मिलाऊं जिसके लिए मेरे मन में इतना प्रेम और सम्मान भाव है। मेरे लिए महात्मा गांधी के वृहद नैतिक चरित्र से बढ़कर चौंकाने वाला और कुछ नहीं है। परमात्मा के विधान ने ऐसे व्यक्ति के द्वारा हमें शक्ति का जलता हुआ वज्र प्रदान किया है। मेरी प्रार्थना है कि यह शक्ति भारत को बल प्रदान कर- उसे अभिभूत न करे।

टैगोर के द्वारा चरखा की आलोचना करने पर उत्तर में गांधी ने ‘यंग इंडिया’ के 5 नवंबर, 1925 के अंक में लंबा लेख लिखा। चरखे को लेकर जो विवाद शुरू हुआ था, उसमें सर पी.सी. राय गांधी के पक्ष में थे और सर बी.एन. सील टैगोर का समर्थन कर रहे थे।

गांधी ने कहा था कि कवि के मन में चरखे को लेकर गलतफहमी है।

गांधी ने तब स्पष्ट किया था कि ‘उनका यह उद्देश्य नहीं था कि कवि अपने गीतों को त्याग दें, किसान हल को या वकील अपनी वकालत या डॉक्टर अपने औजारों को। मैंने तो भूखी जनता से यह कहा था कि काम के अभाव में चरखा कातकर अपनी जीविका को चलाया जा सकता है और अधभूखे किसान खाली समय में चरखा कातकर

अपनी छोटी कमाई में कुछ भरपाई कर सकता है।' उसके बाद बहुत ही संजीदगी के साथ कहा था कि यदि कवि आधा घंटे चरखा कातेंगे तो, उनकी कविता और भी अधिक संपन्न हो जाएगी।

(शांति निकेतन की अंतिम यात्रा सन 1940 में गांधी ने एक बार टैगोर को चरखा कातने के लिए कहा था तो टैगोर ने कहा था कि आप एक कविता लिखें में चरखा कातूंगा) गांधी को जब किसी विदेशी पत्रकार ने 5 शब्दों में जीवन के रहस्य को समझाने के लिए कहा, तब गांधी ने कहा था, 5 क्यों में 3 शब्दों में समझा दूंगा- renounce & rejoice. (तेन त्यक्तेन भूञ्जिथा) टैगोर उसे दूसरे ढंग से कहते हैं rejoice & renounce. गांधी की तरह टैगोर भी उपनिषदों से बहुत प्रभावित थे और यह ईशोपनिषद् का प्रथम श्लोक है:

All that is changing in this changeful world. Know that is enveloped by him who is the Lord of all things. Therefore take your enjoyment in renunciation. Never covet wealth.

परंतु गांधी ने इसका अनुवाद दूसरे ढंग से किया- This whole world is the garment of the Lord. Renounce it then and enjoy it, receiving it back as the gift of god. एम. साल्वे (Madeleine Slave) के अनुसार, महात्माजी तपस्या के पैगंबर और टैगोर आनंद के पैगंबर थे। गांधी और टैगोर इसके सात वर्षों बाद एक-दूसरे के काफी नजदीक आ गए थे जब गांधी Communal Award of Ramsay Macdonald के विरोध में मृत्युपर्यंत अनशन करने के लिए बैठ गए थे। गांधी ने 20 सितंबर 1932 से जेल में ही अनशन करना निश्चय कर लिया था।

कवि बहुत ही विचलित हुए थे और गांधी को लेकर उनकी उत्कंठा इतनी अधिक हो गई थी कि उन्होंने इस संगीन परिस्थिति पर चिंता और विमर्श के लिए अपने सारे जन कार्यक्रम रद्द कर दिए थे। 24 सितंबर को टैगोर पूना के लिए रवाना हुए और गांधी की अवस्था को लेकर चिंता व्यक्त करते हुए मैक्डोनल्ड को तार भेजा। 26 सितंबर को, जब टैगोर पूना पहुंचे, तब Communal Award को लेकर समझौते की खबर गांधी को मिल गई थी। टैगोर ने जेल में पहुंचकर गांधी के अनशन भंग के समय वह गाना स्वयं गाया था:

'जीवन जखन सुकाए जाए, करुणा धाराय एसो।'

(जीवन जब सूख जाए, तुम करुणा की धार बनकर आना)

उस समय राजगोपालचारी, राजेंद्र प्रसाद, हृदयनाथ कुंजरू, वल्लभभाई पटेल, सरोजिनी नायडू, कमला नेहरू आदि वहां उपस्थित थे।

दूसरे दिन शिवाजी मंदिर में आयोजित एक सभा में गांधी के प्रति टैगोर के भाषण को गोविंद मालवीय ने पढ़कर सुनाया :

य एक वर्णो बहुधा शक्ति योगात्

बर्णान एनेकेन निहितार्थो दधातिविच्यति चन्ते विश्वमदान सदैवः

सन बुध्या शुमया समयुनक्तो श्वेताश्वतर

वह जो एक है, और जो हरेक की आवश्यक जरूरतों की पूर्ति करता है, जो सब पदार्थों का प्रारंभ और अंत है, वह सत्य के साथ हमें जोड़ता है, और जो उचित है उसके साथ हरेक को संबद्ध करता है।

हम प्रतिज्ञा करते हैं-

- (1) जाति और वर्ग के अनुसार किसी को छोटा नहीं समझेंगे।
- (2) मंदिर, कुआं, सामाजिक अनुष्ठानों में हरेक की भागीदारी होगी।
- (3) छुआछूत का हर तरह से बहिष्कार किया जाएगा।
- (4) हम ऐसे किसी कार्य को सहन नहीं करेंगे, जो दूसरों की चिंताधारा को

आघात पहुंचाएगा।

इस मौके पर गांधी पर टैगोर की रचनाओं का एक संकलन 'Mahatmaji and the Depressed Humanity' का लोकार्पण हुआ। यह पुस्तक सर पी.सी. राय को समर्पित की गई थी, परंतु जो व्यक्ति सत्य को सब तरह के तर्क, सोच-विचार, चिंतन के ऊपर स्थान देता है, उसके लिए व्यक्तिगत सुख की कोई गुंजाइश नहीं होती। हमारे पौराणिक इतिहास में ऐसा एक व्यक्ति था श्री रामचंद्र। दोनों के बीच फरवरी 1934 में फिर एक विवाद छिड़ गया। 15 जनवरी को बिहार में भयानक भूकंप आया था- उसके बारे में गांधी ने कहा कि छुआछूत के पाप का ईश्वर के द्वारा दिया गया यह दंड विधान है।

कवि यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे और उन्होंने तत्काल गांधी को एक पत्र दिया जो 16 फरवरी 1924 के 'हरिजन' में प्रकाशित हुआ। उन्होंने लिखा था देशवासियों के मन से डर और दुर्बलता को खत्म कर मुक्ति दिलाने के कारण हम महात्मा गांधी के प्रति चिर कृतज्ञ हैं, परंतु हमें तब गहरा दुःख पहुंचता है जब उनके मुंह से निकले शब्द युक्तिहीनता को महत्व देते हुए उन्हीं देशवासियों के मन को प्रभावित करते हैं-युक्तिहीनता उन सब अंधशक्तियों का मूलभूत आधार है जो हमें स्वाधीनता और आत्मसम्मान को खोने के लिए मजबूर कर रही है।

गांधी का उत्तर पत्रिका के उसी अंक में प्रकाशित हुआ जो एक पवित्र आत्मा के द्वारा लिखे गए एक गद्य गीत की तरह था- 'मेरे लिए ब्रह्मांडीय प्राकृतिक घटना एवं मानव व्यवहार एक जीवंत आस्था है जो मुझे ईश्वर के निकट ले जाता है, मुझे विनीत करता है, उस परमपिता के सम्मुख होने के लिए तैयार करता है। इस तरह का विश्वास मेरे लिए अपमानजनक अंधविश्वास में परिणत हो जाएगा, यदि अज्ञानतावश भी मैं इस आस्था को मेरे विपक्षियों को तिरस्कृत करने के लिए इस्तेमाल करूं।' मुझे ऐसा लगता है, जैसा कि आशीष नंदी कहते हैं कि- गांधी अपने वक्तव्यों द्वारा सामूहिक दायित्व को परिभाषित कर रहे थे और यह कोई अनहोनी संकल्पना नहीं थी। प्रेसिडेंट क्लिंटन ने अमेरिका के द्वारा दास प्रथा के पाप के लिए माफी मांगी थी, हालांकि उन्होंने कभी भी इस प्रथा को स्वीकार नहीं किया था, ना ही आज का व्हाइट अमेरिका इसे स्वीकार करता

है, परंतु फिर भी उन्होंने माफी मांगी, क्योंकि आज का अमेरिका उस संस्कृति का उत्तराधिकारी है, जिसके अंतर्गत यह प्रथा प्रचलित थी। गांधी इतने विवेकशील और बुद्धिमान थे कि इस तर्क के औचित्य को समझ सके। रामचंद्र गांधी साइमन वेल (Simone Weil) के कर्म सिद्धांत के सामूहिकतावादी (Collectivize) सिद्धांत से गांधी के बिहार भूकंप से संबंधित वक्तव्य को स्पष्ट करते हैं और इस तरह गांधी टैगोर के बीच के Debate को अंधविश्वास बनाम तर्कसंगत, परंपरा के अंधकार बनाम आधुनिकता के जानोदय जैसी सरलीकृत व्याख्या को ध्वस्त करते हैं।

कदाचित इस तरह की सरल और गंभीर, धर्मनिष्ठतापूर्ण अभिव्यक्ति का कोई उत्तर नहीं था। इसमें हिंदू भक्ति गीत की शांति है और एक चीज, कम से कम इस बार गांधी-टैगोर से अधिक काव्यमय प्रतीत होते हैं।

गांधी की इस विचार-दृष्टि का विरोध करने पर भी लोगों की कटु आलोचना से क्षुब्ध टैगोर ने गांधी का पक्ष लेते हुए अपना वक्तव्य जारी किया: 'To one really great, the real adulation as well as the cheap sneers of the mob mean very little and I know Mahatmaji carries that greatness with him.'

गांधी जब अंतिम दफा 17 फरवरी, 1940 में शांति निकेतन पहुंचे थे तब वह दो सगोत्रीय आत्माओं का मिलन था। गांधी ने 'हरिजन' के 2 मार्च 1940 के अंक में इस यात्रा के बारे में बहुत ही आवेगपूर्ण ढंग से लिखा, इससे पहले उसी वर्ष 19 फरवरी को टैगोर ने गांधी को एक पत्र में लिखा था: 'विश्व भारती एक जहाज की तरह है, जिसमें मेरे जीवन का सर्वाधिक मूल्यवान खजाना लदा हुआ है, उसकी रक्षा करें।'

उत्तर में गांधी ने लिखा, 'यद्यपि मैंने हमेशा शांतिनिकेतन को अपना दूसरा घर माना है, परंतु इस बार की यात्रा ने मुझे पहले की अपेक्षा कहीं अधिक नजदीक ला उपस्थित किया है।'

जब 7 अगस्त, 1941 को टैगोर की मृत्यु हुई तब अपने शोक संदेश में गांधी ने लिखा- 'ऐसी कोई सार्वजनिक घटना शायद ही घटी होगी, जिस पर उनके शक्तिशाली व्यक्तित्व का प्रभाव नहीं पड़ा हो।' यह स्पष्ट है कि गांधी यह सोचते थे कि उनके सार्वजनिक कार्यों पर टैगोर के व्यक्तित्व का भी प्रभाव था। टैगोर के द्वारा सार्वजनिक वक्तव्यों तथा निबंधों में गांधी के प्रति उनके श्रद्धाभाव की अभिव्यक्ति सर्वविदित है और इसी तरह गांधी के द्वारा दी गई प्रशस्तियां (Tributes) सांप्रतिक भारतीय इतिहास के अंग हैं, परंतु कदाचित हमें अभी तक इसका संज्ञान नहीं है कि इन दो व्यक्तियों की अत्यधिक लोकप्रियता के बावजूद दोनों बहुत ही निःसंग थे। यद्यपि दोनों में सिद्धांतों को लेकर कई विवाद हुए क्योंकि दोनों ही के लिए सब चीजों के ऊपर सत्य का स्थान था और इस दृष्टि से दोनों अभिन्न थे।

गांधी कवि को गुरुदेव कहते थे और टैगोर ने अपनी मृत्यु के छह महीने पहले गांधी को लेकर एकमात्र कविता लिखी और उसका शीर्षक रखा, 'गांधी महाराज'। इस

कविता में रवींद्र अपने को उन लोगों के साथ एक मानते हैं जिनके ललाट पर गांधी का परिचय चिह्न अंकित है-

चिरकालेर हातकडि येधुलाय खसे पडल निजे, लागल भाले गांधीराजार छाप।
(चिरकाल की हथकड़ियां खुलकर धूलि में गिर पड़ीं- और गांधी राजा का परिचय चिह्न भाल पर अंकित हुआ)।

इसके साथ जोड़कर शीर्षकहीन और एक कविता रची गई थी, जिसमें भविष्य में गांधी की हत्या की घटना का पूर्वाभास है जो अधिनेता रात के अंधेरे में यात्रियों को रास्ता दिखाकर ले जा रहा था, उस पर अविश्वास करके यात्री दल उसकी हत्या कर देता है, परंतु अंततः उनको संज्ञान होने पर उस 'महामृत्युंजय' को याद करते हुए आगे बढ़ते हैं :

‘अंधकार में चल रहे हैं वे।

पैर के नीचे की धूलि नीरव स्पर्श से दिशा की पहचान कराती है।

स्वर्ग पथ यात्री नक्षत्र दल मूक संगीत के द्वारा कहते हैं,

साथी आगे बढ़ो।

अधिनेता की आकाशवाणी कानों में सुनाई पड़ती है,

और विलंब नहीं।

आज, जब टैगोर के द्वारा रचित एक गीत गांधी को इतना प्रिय होने के कारण काफी अर्थपूर्ण लगता है:

‘यदि तोर डाक शुने केउ ना आसे तबे एकला चलो रे

यदि केउ कथा ना कय, ओरे ओरे ओ अभागा,

यदि सबाइ थाके मुख फिराये सबाइ करे भय तबे परान खुले

ओ तुइ मुख फुटे तोर मनेर कथा एकला बलोरे।’

दोनों में अकेले बोलने और अकेले चलने का साहस और प्राणशक्ति थी और इसी विशेषता के कारण कभी तो दोनों एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न प्रतीत होते हैं और कभी सार्वजनिक कार्य में एक दूसरे के सहभागी लगते हैं।

जवाहरलाल ने कहा था, गांधी और टैगोर दो अलग-अलग व्यक्तित्व बिल्कुल एक-दूसरे से भिन्न प्रकृति के थे। यद्यपि दोनों ही भारत की स्वाभाविक विचार-दृष्टि के आधार पर भारत के प्रसिद्ध व्यक्तियों में से थे। किसी एक गुण के कारण नहीं मगर सामूहिक गुणों के कारण मैंने ऐसा अनुभव किया है। विश्व के प्रसिद्ध व्यक्तियों में गांधी और टैगोर सर्वश्रेष्ठ हैं। टैगोर ने 13 फरवरी, 1938 को Sunday Statesman में गांधी पर एक लेख लिखा था और अंत में कहा था, कदाचित वे सफल नहीं होंगे, कदाचित वे फेल कर जाएंगे जैसा कि मनुष्यों को अन्याय, पक्षपात से छुड़ाने में बुद्ध असफल हुए थे, ईसा मसीह भी, परंतु गांधी हमेशा हर युग में याद किए जाएंगे एक ऐसे व्यक्ति के रूप में, जिसने अपने जीवन को एक उदाहरण बनाकर हमारे बीच उपस्थित किया था।

विकास का वैकल्पिक मॉडल

सच्चिदानंद सिन्हा

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एवं चिंतक सच्चिदानंद सिन्हा द्वारा महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के 15वें स्थापना दिवस (29 दिसंबर 2012) के अवसर पर दिए गए महत्वपूर्ण विचारोत्तेजक उदघाटन भाषण को पाठकों के लिए अविकल प्रस्तुत कर रहे हैं। इसके साथ ही आगे के पन्नों पर उनसे आर्थिक विषयों को लेकर की गई एक बातचीत भी दी जा रही है :

वैकल्पिक विकास के मॉडल की बात करना आज उसी तरह अर्थहीन है जैसे कभी यूटोपिया की बात करना समाजवादी आंदोलन के प्रारंभिक काल में था। कोई भी व्यवस्था सामने की हकीकत के संदर्भ में ही बनती है, बनी-बनाई कल्पना के अनुरूप नहीं। ऐसे किसी भी मनचाहे ब्लूप्रिंट को लागू करने का प्रयास या तो धर्मांधता को जन्म देता है या तानाशाही को। आज चूंकि पर्यावरण का संकट विविध रूपों में हमारे अस्तित्व के लिए सर्वाधिक महत्व का बन गया है, इसलिए हमें समाज निर्माण की वैसी दिशा अपनानी होगी जो पर्यावरण के लिए कम से कम नुकसानदेह हो। अगर ऐसे परिवर्तन हमारे बूते के बाहर दिखें तो हम स्वयं सामाजिक जीवन को बदली स्थिति के अनुकूल ढालें। एक बुनियादी बात ध्यान में रखना जरूरी है। शोषणमुक्त समाज में पारिस्थितिक संतुलन बनाए रखने की क्षमता गैरबराबर समाज से अधिक होती है, गैरबराबरी से ही दिखावे के लिए बेजरूरत तामझाम पर खर्च जरूरी होता है, और बाजार आश्रित पूंजीवादी समाज में तो बेजरूरी वस्तुओं के उत्पादन व उपभोग की भूमिका इतनी महत्वपूर्ण है कि इसे नियंत्रित करने से पूंजीवादी व्यवस्था ध्वस्त हो सकती है। इससे यह तो जरूर कहा जा सकता है कि प्रकृति से तालमेल बिठाकर चलनेवाली कोई भी व्यवस्था समता के मूल्यों

पर ही आधारित हो सकती है। इन बातों को ध्यान में रख एक सीमित संदर्भ में ही विकल्प की बात की गई है। कुछ सीमाओं व कुछ संभावनाओं का संकेत भर।

वैकल्पिक मॉडल की चर्चा करने से पहले वर्तमान में जो मॉडल चल रहा है, उसके मूल तत्व और उसकी दिशा को समझना जरूरी है और इसके उन परिणामों को भी, जिनसे विकल्प की तलाश जरूरी लगती है। विकल्प कैसा होगा, यह बहुत कुछ इन परिणामों की समझ पर ही, निर्भर करेगा। आदमी विधाता की तरह मनमाने ढंग से सृष्टि कर नहीं सकता।

किसी भी समाज की मूल संरचना को समझने के लिए उसके आर्थिक पक्ष को यानी आदमी के भोजन, आवास, परिवहन, उनके आपसी आदान-प्रदान में सहयोग और तनाव के तत्व और इन्हें संचालित करनेवाले बलों की पहचान जरूरी है लेकिन इसके आगे हर समाज का आदर्श लक्ष्य होता है, जो नियामक शक्ति का काम करता है। यहां एक तरह का खिंचाव (टेलियोलॉजी) होता है। सब कुछ वर्तमान बलों के दबाव और संतुलन से निर्धारित नहीं होता, बल्कि इन बलों के परिप्रेक्ष्य में एक काल्पनिक, पर अटल आकर्षक बिंदु होता है जो लगातार समाज को अपनी ओर खींचता रहता है। यूनानी मिथक के 'सायरनों' की तरह।

मार्क्स ने उत्पादन के साधन और इनसे जुड़े उत्पादन संबंधों को विकास की दिशा का नियामक बताकर एक तरह के तकनीकी निर्यातवाद को जन्म दिया। उन्होंने यह भी मान लिया कि एक स्तर पर तकनीक और इससे जुड़े उत्पादन संबंध में विरोध पैदा होता है और, इससे क्रांतिकारी बदलाव की शुरुआत होती है। पूर्व काल में यानी पूंजीवादी व्यवस्था के पहले जैसा भी हुआ हो लेकिन पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन की तकनीक के उत्पादन संबंध यानी पूंजीपति और मजदूरों के संबंध, उनके बीच के तनाव पर हावी होते दिखते हैं। मजदूर पूंजीपतियों से कुछ बिंदुओं पर तनाव के बावजूद समग्रता में व्यवस्था के मूल्यों को आत्मसात कर उसके विकास के साथ ही अपने हित को जोड़ने लगा है। प्रारंभिक बागी तेवर को छोड़, जिसे समायोजन की पीड़ा कहा जा सकता है, मजदूरों में पूंजीवादी व्यवस्था को पूरी तरह खत्म करने का संकल्प नहीं दिखा। प्रतिस्पर्द्धा आधारित पूंजीवाद मजदूर समेत हर नागरिक को एस्केलेटर की एक सीढ़ी पर खड़ा कर देता है, इस आश्चस्ति के साथ कि वह ऊपर-ऊपर उठता जाएगा। व्यवस्था की सुविधा के हिसाब से तकनीक के नए आयाम विकसित होते रहते हैं। रूस, चीन और वियतनाम, सभी जगह कम्युनिस्ट नेतृत्व में क्रांतियां हुईं; वे तो पूंजीवादी विकास के प्रारंभिक दौर में ही थे और अंत में पूंजीवाद के विरोध की जगह फिर इसे पूर्णता में कबूल कर लिया गया। यह विडंबना ही है कि रूस और चीन की क्रांतियों से अति कठोर तानाशाही राज्य व्यवस्था और अतिउदार पूंजीवादी व्यवस्था पैदा हुई। इस सब से यह जाहिर है कि बीसवीं सदी के शुरू में समतामूलक व्यवस्था की जो आशा जगी थी वह खत्म हो चुकी है। यही नहीं, तकनीकी स्वर्ग पर पहुंचने की राह पर नई बाधाएं खड़ी हो गई हैं। चिंता की बात यह है कि पूंजीवाद के आगे किसी अच्छे भविष्य की कल्पना जो दुनिया को मार्क्सवाद में दिखी थी, संदिग्ध है। इक्कीसवीं सदी के प्रारंभ में हम वैसे ही आश्चस्ति नहीं हैं जैसे एक सदी पहले थे।

हम कहाँ जा रहे हैं, इसके सही आकलन के लिए उस खिंचाव के उद्गम और उसे ऊर्जा देने वाले तत्वों का, जिसका जिक्र पहले हुआ है, उनका आंकलन जरूरी है। हमें यह भी देखना है कि यह हमें किसी स्वर्णिम भविष्य की ओर ले जा रहा है या बरबादी के गर्त में।

वर्तमान औद्योगिक समाज के नियामक तत्व अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी से परवान चढ़ी औद्योगिक क्रांति और इसके वे आदर्श हैं जो इसकी गति और अतियों को औचित्य प्रदान करते हैं। इसमें, जैसा कि समाजशास्त्री मैक्स वेबर का मानना था, ईसाई धर्म की प्रोटेस्टेंट धारा की इस स्थापना की विशेष भूमिका थी जो व्यावसायिक सफलता को ईश्वरीय अनुकंपा का प्रमाण मानती है। अपने विकास के क्रम में पूंजीवादी व्यवस्था ने तकनीकी दक्षता और इससे जुड़ी व्यावसायिक सफलता को ईश्वरीय अनुकंपा से आगे बढ़ मानव समाज का सर्वोच्च और सर्वजनीन आदर्श बना डाला। इस मान्यता के सार्वभौम होने से आर्थिक गतिविधियों का क्षेत्र एक वैश्विक अखाड़ा बन गया है, जहां सभी खिलाड़ी ऐसी मार-पछाड़ में लगे हैं, जिसमें प्रतिस्पर्धा की मौत से ऊर्जा ग्रहण कर अधिक बलिष्ठ बना जाता है। इस प्रक्रिया को अंग्रेजी से उधार लिए गए शब्दों में 'कॉरपोरेट कैनिबलिज्म' कहा जा सकता है। फिर इससे प्राप्त बल से विजेता, दूसरे प्रतिद्वंद्वियों से भिड़ते रहते हैं। अनेक व्यावसायिक कंपनियों के दिवालिया होते जाने और कुछ के बढ़ते जाने का सिलसिला जारी रहता है। शेयर बाजारों में हर रोज होने वाले उतार-चढ़ाव का खेल इस प्रतिस्पर्धा का एक सौम्य प्रतिबिंब है। जीवन के मैदान में इसका दूसरा पहलू दिखाई देता है, जिसमें कारखानों, खदानों तथा खेत-खलिहानों में मजदूर मालिकों से वेतन भत्ते के लिए या रोजगार की गारंटी के लिए युद्धरत हैं, किसान भुखमरी की कगार पर रहने को मजबूर हैं और समय-समय पर आत्महत्या कर अनवरत चलनेवाले जीवन संघर्ष से छुट्टी पा लेते हैं। समय-समय पर अन्न संकट और अकाल से असंख्य मौतें, तब भी होती रहती हैं, जब गोदामों में अनाज इस इंतजार में पड़ा रहता है कि अधिक मुनाफे पर उसे बेचा जा सके। इस समग्र प्रक्रिया को एक सुंदर नाम 'उदारीकृत व्यवस्था' दिया गया है।

यह कहा जा सकता है कि व्यवस्था की ये कमजोरियां तो रही हैं और इनकी आलोचना भी होती रही है लेकिन हमें रहना तो है, इसी व्यवस्था से तालमेल या संतुलन बनाकर। कुछ सुधार के उपाय सुझाए जा सकते हैं। कुछ समायोजन की तलाश हो सकती है। पर नई उत्पादन तकनीक से जो ऊंचा जीवन स्तर इस व्यवस्था ने दिया है वह तो पुराने समय की किसी कल्पना से परे है। यह ठीक है कि ये सुविधाएं, अभी थोड़े से लोगों तक सीमित हैं लेकिन आशा जगती है कि देर सबेर ये सुविधाएं सर्वजनीन हो जाएंगी। यही आशा है, जो सारे संसार को एक तकनीकजनित स्वर्ग की आकांक्षा में मुग्ध रखती है और व्यवस्था को एक नियोजित पथ पर चलाती रहती है।

इस व्यवस्था के सुधार की दिशा में कुछ अलग उलझन है। इसके सुधार की तलाश व्यवस्था के उद्गम की ही ओर ले जाएगी और वहां बुनियादी सुधार का अर्थ होगा व्यवस्था की मौत क्योंकि यह मनुष्य और प्रकृति दोनों के शोषण पर पूरी तरह आश्रित है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में कम्युनिस्ट विचारधारा के आदि स्रोत कार्ल मार्क्स ने पूंजी के विकास में (जो इस व्यवस्था का निर्धारक है) श्रम के शोषण की केंद्रीय भूमिका को रेखांकित किया और आदिम संचय (प्रिमिटिव एक्युमुलेशन) की क्रूर प्रक्रिया से लेकर

परिष्कृत रूप से स्थापित पूंजीवादी प्रतिष्ठानों में अदृश्य रूप से होनेवाले श्रमिकों के शोषण के विविध रूपों का विशद वर्णन किया। उन्होंने यह भी स्थापित किया कि उत्पादन प्रक्रिया में श्रमिकों के शोषण से प्राप्त श्रम का अधिशेष ही पूंजीपति के मुनाफे का स्रोत है। उत्पादन एवं विपणन में मजदूरों से चुराए गए श्रम के अधिशेष के बराबर के उत्पाद की खरीदारी का टोटा बना रहता है। इसी से पूंजीवाद के अनिवार्य संकट की बात की गई। पर, बार-बार मंदी का संकट झेलकर भी पूंजीवादी व्यवस्था ध्वस्त नहीं हुई। यूरोप का 1968 का छात्र विद्रोह या 'ऑकुपाई वाल स्ट्रीट' जैसे सांकेतिक विद्रोह, व्यवस्था के लिए महज सेफटीवॉल्व साबित हुए हैं। पूंजीवादी व्यवस्था अपने अंतर्विरोध के साथ उदारीकरण के नाम से ज्यादा विस्तार पाती रही है। जैसा कि पहले कहा गया है उलटे रूस, चीन आदि में क्रांति के बाद के काल में पूंजीवाद अधिक शक्तिशाली हो फिर स्थापित हो गया। क्यूबा एक अपवाद है और, इसका कारण अपनी विशेष परिस्थितियों के अनुरूप विशालता को छोड़ लघुता की अर्थव्यवस्था की ओर मुड़ना था। पर, यह प्रचलित औद्योगिक विकास की मुख्यधारा के विपरीत आचरण है।

श्रमिकों के शोषण और इससे उपजे बाजार के संकट एवं ट्रेड साइकिल यानी उत्पादन की स्फीति और संकुचन के चक्र की समझ मार्क्स के अर्थशास्त्र में दूसरे विचारों से अधिक विश्वसनीय लगती है। अनवरत औद्योगिक विकास की जो संभावना पूंजीवादी तकनीक में दिखाई देती थी, उसके प्रति मार्क्स में एक सम्मोहन भी था जो 'कम्युनिस्ट मनिफेस्टो' में जाहिर होता है, जहां पूंजीवाद की उपलब्धियों को इन शब्दों में गरिमा मंडित किया गया है : 'प्रकृति की शक्तियों को मनुष्य के मातहत करना, मशीन व रसायन शास्त्र को उद्योग और कृषि में लगाना, भाप से समुद्री जहाज, रेल और इलेक्ट्रिक टेलीग्राफ चलाना, पूरे महादेशों को खेती के लायक बनाना, नदियों से सिंचाई के लिए नहर, भूमि से हठात पूरी आबादी का उभर आना, किसी पूर्ववर्ती सदियों की कल्पना में भी सामाजिक श्रम की ऐसी उत्पादकता नहीं रही होगी।'

इस सोच में प्रकृति का निर्बाध दोहन दोषरहित दिखाई देता है और इसी से श्रम के मूल्य सिद्धांत में एक बुनियादी बात नजरअंदाज कर दी जाती है। पूंजी श्रम के दोहन से आती है, यह तो मूल्य के श्रम सिद्धांत से स्पष्ट हो जाता है। यह भी दिखाई देता है कि अंततः संचित पूंजी मजदूरों के श्रम के अधिशेष (सरप्लस लेबर) का संचय है। लेकिन इस बात को नजरअंदाज कर दिया गया है कि संचित श्रम सदा किसी उत्पाद का रूप लेता है और यह उत्पाद प्रकृति से प्राप्त कच्चे माल, खनिज आदि के रूपांतरण से एवं ऊर्जा प्रदान करने वाले कोयला, तेल आदि को जलाकर प्राप्त होता है। दरअसल, अत्याधुनिक उद्योगों में मानव श्रम - जो कि ऊर्जा का ही एक परिष्कृत और संचित रूप है अपना महत्व खोता गया है और मशीन एवं रोबोट धीरे-धीरे इनका काम संभालने लगे हैं। इस कोण से देखने पर यह तुरंत जाहिर होता है कि चूंकि धरती के संसाधन- चाहे वे कच्चे उद्भिज पदार्थ हों, खनिज हों या ऊर्जा देनेवाले कोयला, पेट्रोलियम या प्राकृतिक गैस- इनके अतिदोहन से कुछ दिनों के बाद संकट पैदा होगा। एक तो इसलिए क्योंकि ये जीवाष्म ईंधन हैं और एक तरह से गड़े खजाने जो उतनी ही जल्दी खत्म हो जाएंगे, जितना अधिक मात्रा में इनका दोहन होगा। आज का पर्यावरण संकट इन्हीं प्राकृतिक साधनों के अतिदोहन का परिणाम है और ज्यादा बुनियादी है। इसमें सबसे महत्वपूर्ण

ऊर्जा का संकट है, जो ऊर्जा प्रदान करनेवाले साधनों के घटते जाने से और फिर इन्हें जलाने से पैदा कार्बन डाइऑक्साइड तथा अन्य गैसों के वायुमंडल में जमा होने से तथा कथित 'ग्रीन हाउस इफेक्ट' से, जिससे धरती का तापमान बढ़ता जा रहा है, पैदा हुआ है। इसके परिणाम के बारे में इतना कुछ कहा जा रहा है कि यहां कुछ विस्तार से कहना जरूरी नहीं है। प्रारंभिक चिंता के बाद अचानक औद्योगिक रूप से समृद्ध देशों में, जो प्रायः समशीतोष्ण या शीत कटिबंधों में पड़ते हैं, अब इस समस्या को नजरअंदाज किया जा रहा है। इससे यह आशंका पैदा होती है कि अब दो अलग-अलग दुनिया बनने जा रही है। एक संपन्न, प्रायः ऊंचे कटिबंध में पड़ने वाले देशों की और दूसरी गरीब व प्रायः विषुवत रेखा के पास के कटिबंधों में पड़नेवाले देशों की, जिनमें हमारा देश भारत भी शामिल है।

यों तो ऊर्जा संकट और प्रदूषण के प्रभाव पर ई.एफ. शुमाखर के 'स्मॉल इज ब्यूटीफुल', और 'क्लब ऑफ रोम' के अध्ययन 'द लिमिट्स ऑफ ग्रोथ' के प्रकाशन के बाद से ही पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध से चर्चा होने लगी थी। इस पर दुनिया के राष्ट्रों द्वारा सक्रिय पहल 1992 के ब्राजील के रियोडीजेनेरो में होने वाले शिखर सम्मेलन से शुरू हुई। इसके बाद 1994 में क्योटो प्रोटोकॉल नाम से एक समझौता हुआ और तय हुआ कि औद्योगिक देश ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन 2012 तक 1990 के स्तर से 5.2 प्रतिशत घटा देंगे। इस पर 1905 में मान्यता की मुहर लगी, लेकिन दुनिया के सबसे बड़े औद्योगिक देश और प्रति व्यक्ति सबसे अधिक गैसों का उत्सर्जन करने वाले अमेरिका ने इस पर अपनी स्वीकृति नहीं दी। कार्बन डाइऑक्साइड का उत्सर्जन 1990 में 22.7 अरब टन था। क्योटो प्रोटोकॉल में इसे घटाकर 21.5 अरब टन करने का लक्ष्य था लेकिन 2010 में यह बढ़कर 33 अरब टन हो गया। यानी घटने की बजाए डेढ़ गुना अधिक हो गया। दरअसल, औद्योगिक प्रगति के उन्माद में प्रदूषण फैलाने वाले गैसों के उत्सर्जन को कम करने के लक्ष्य को सदा नजरअंदाज किया गया। अंततः यह सारा संकल्प गायब हो गया। चीन और भारत जैसे देश तेज विकास के लोभ में इसे नजरअंदाज करते रहे और विकसित देशों को अपने विकास का एक वैकल्पिक क्षेत्र दिखने लगा, जहां धरती का बढ़ता ताप नए भूभागों में विकास का दरवाजा खोलता नजर आने लगा है। अमेरिका तो पहले ही क्योटो समझौते से बाहर था। 2011 में कनाडा क्योटो समझौते से बाहर हो गया। सिर्फ यूरोप के देश कटौती करते रहे। कनाडा का बहाना था कि अमेरिका और चीन घटाने के बजाय उत्सर्जन बढ़ाते रहे हैं।

पर्यावरण की रक्षा से पश्चिमी देशों के पीछे हटने का असली कारण दूसरा लगता है। उत्तरी ध्रुव प्रदेश में विशाल पैमाने पर बर्फ के पिघलने से संसाधनों और यातायात का एक नया मार्ग खुल रहा है जो उनके लिए अधिक मुफीद है। अमेरिका और उत्तरी शीत कटिबंध में पड़ने वाले यूरोप के कुछ दूसरे संपन्न देशों को ध्रुव प्रदेश में बर्फ के पिघलने से खनिजों और प्राकृतिक गैसों का नया खजाना हासिल होने की संभावना है और रूस और दूसरे देश इस क्षेत्र में अपनी सामरिक उपस्थिति बढ़ाने में लगे हैं।

2010 के अगस्त महीने में रूस की एक प्राकृतिक गैस कंपनी 'नोवोटेक' ने एक लाख चौहत्तर हजार टन के एक टैंकर 'बाल्टिका' को उत्तरी ध्रुव प्रदेश के सागर के रास्ते चीन भेजा। उनका अनुमान है कि इस मार्ग के खुल जाने से यूरोपीय देशों के लिए एक छोटा और सस्ता व्यापारिक मार्ग खुलेगा जो प्रायः शीत कटिबंधों से होकर गुजरेगा। यह

पथ मुरमास्क से शंघाई तक 10,600 कि.मी. लंबा है, जबकि स्वेज से होकर वहां पहुंचने का मार्ग 17,700 कि.मी. है। उत्तरी मार्ग के खुल जाने से कनाडा, अमेरिका, यूरोप के सभी देश चीन, जापान आदि भी यानी वे सभी देश जो आधुनिक व्यापार की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं तात्कालिक रूप से ग्लोबल वार्मिंग से लाभान्वित होंगे। आर्कटिक प्रदेश में खनिजों का विशाल भंडार होने का अंदाज है और इसलिए आर्कटिक के पास के देशों यथा- रूस, नार्वे, डेनमार्क, कनाडा, अमेरिका आदि में अभी ही, इन खनिजों पर अधिकार जमाने के लिए राजनयिक होड़ शुरू हो गई है। उत्तर और दक्षिण का जो विभाजन पहले ही से उजागर होता आया है अब अधिक गहराएगा और उत्तर और दक्षिण के देश विकास की एक ही दिशा में आगे और पीछे, धीमे और तेज चलने वाले नहीं रह पाएंगे। तथाकथित विकासशील देशों को बिलकुल अलग राह अपनाने की मजबूरी होगी। शीत और समशीतोष्ण कटिबंधों के देश नए संसाधनों के चुकने तक इस अंधी दौड़ में ही रहेंगे। एक अर्थ में फिलहाल ऊंचे अक्षांशों में बसे देश एक ही तरह की 'एस्कॉर्चर्ड अर्थ पॉलिसी' में संलग्न हैं और बाकी दुनिया को जलता छोड़ शीतल प्रदेशों की ओर पलायन की मुद्रा में हैं जहां से वे अपनी जरूरत के हिसाब से बाकी जगहों पर पांव पसारते रहेंगे। हम वैश्विक स्तर पर ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन और प्रदूषण पर कोई रोक नहीं लगा सकते और एक हद तक उससे प्रभावित होते रहेंगे।

भारत और तथाकथित विकासशील देश अपने लिए एक अलग राह की तलाश तो कर ही सकते हैं जो प्रकृति पर विजय पाने के बजाय प्राकृतिक शक्तियों और परिवेश से सहयोग और प्रकृतिप्रदत्त जीवन की लय से जोड़ कर चलने के संकल्प पर आधारित हो।

जीवन का आधार पोषाहार है। प्रकृति में सहस्राब्दियों से एक 'फूड चेन' (भोजन श्रृंखला) रही है, जिसमें एक स्वाभाविक प्रक्रिया से असंख्य वनस्पतियां और जीव जीवन ग्रहण करते रहे हैं। इस फूड चेन का आधार सूरज से प्राप्त होने वाली ऊर्जा है जो अरबों वर्ष तक प्राप्त होती रहेगी, ऐसा वैज्ञानिकों का अनुमान है। शैवाल से लेकर, घास और विशाल वृक्षों के पत्तों तक सूरज की किरणों से प्रकाश-संश्लेषण की क्रिया होती है, जिससे हवा के कार्बन डाइऑक्साइड से कार्बन ग्रहण कर वृक्षों और पौधों की डालियां और तने कार्बन ग्रहण कर सेलुलोज बनाते हैं, जिससे पत्तों और तनों का निर्माण होता है और ऑक्सीजन का उत्सर्जन होता है। इसी प्रक्रिया से असंख्य वनस्पतियों का विकास होता रहा है और इनमें अन्न, फल, मूल लगते रहे हैं। इन्हीं से मनुष्य और अनेक दूसरे जीव पोषण पाते हैं। इन वृक्षों के फूल और पत्तों से अनेक कीट और पतंगे भोजन पाते हैं फिर इन कीट पतंगों को खाकर मेढक या दूसरे कई जीव अपना निरस्तार करते हैं। इनसे मेढक जैसे जीव भोजन पाते हैं और फिर इन जीवों से मछलियां आहार पाती हैं और स्वयं मनुष्य या दूसरे जीवों का आहार बनती हैं। वनस्पति से अनेक चौपाए खरगोश और भेड़-बकरियों से लेकर गाय, बैल और घोड़ा और ऊंट तक अपना आहार पाते हैं फिर इनका शिकार कर शेर, भेड़िये आहार पाते हैं। जब से मनुष्य ने खेती और पशुपालन शुरू किया, कृषि कार्यों के अलावा ये पशु लंबे समय तक उनके भोजन में मांस, दूध आदि प्रदान करते रहे हैं। कुछ सीमित स्थानों पर जलनिकासी और सिंचाई के लिए स्वाभाविक रूप से बहने वाली जलधारा मसलन- झरनों या हवा चक्की का भी प्रयोग हुआ, जैसे

हॉलैंड में जलनिकासी के लिए लेकिन ये सब सूरज की ऊर्जा के स्वाभाविक प्रभाव के ही प्रतिफल थे। सहस्राब्दियों से धरती सूरज के ताप की ऊर्जा से लाभान्वित होती रही है।

फूलों के परागण की प्रक्रिया में सहयोग दे मधुमक्खियां शहद बनाती थीं और तितलियों में कुछ के प्रजनन चक्र द्वारा रेशमी धागों का प्रादुर्भाव हुआ। असंख्य पौधों और वृक्षों से सजावट के विविध रंग और स्वास्थ्य के लिए जरूरी औषधि उपलब्ध होते थे। इन सब के पीछे सूरज की अक्षय ऊर्जा थी। इससे न सिर्फ (जैसा ऊपर कहा गया है) प्रकाश संश्लेषण के लिए ऊर्जा मिलती थी बल्कि समुद्र के वाष्पीकरण और हवा को गति देने के लिए ऊर्जा उपलब्ध होती थी।

यह सारी जीवन प्रक्रिया भौतिक शास्त्र के अटल माने गए 'इंट्रोपी' के सिद्धांत को पलटने जैसा चमत्कार रही है। इंट्रोपी का नियम है कि संसार भर में ऊर्जा अबाध रूप से सम स्तर की ओर बढ़ रही है, जहां ऊर्जा के संचरण का अंत हो जाएगा। इसे पूर्ण इंट्रोपी का नाम दिया गया है। 'बायोस्फेयर' में यानी धरती पर व्याप्त जीव जगत में असंख्य जीवों और वनस्पतियों के जीवन चक्र में इसके उलट ऊर्जा विविध स्तरों पर उपस्थित है और उसमें नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे दोनों ही तरफ से ऊर्जा का संचरण जारी रहता है। यह संभव इसलिए हुआ क्योंकि करोड़ों वर्ष से अनेक उथल-पुथल के बावजूद जैव जगत के अस्तित्व में आने के बाद से आज तक इंट्रोपी के नियम का उल्लंघन यानी एक तरह की सविनय अवज्ञा जारी रही है। इंट्रोपी के नियम को अपने छोटे से दायरे में पलटने के लिए जीव जगत को सूरज से ऊर्जा प्राप्त होती है। यह सूरज की ऊर्जा जीव जगत की लघुता के हिसाब से असीम है। जब मनुष्य जीवाश्मों या किसी दूसरे स्रोत से आज मशीन चलाता है तो इंट्रोपी बढ़ाने लगता है। अगर जीवन का कोई रहस्य है तो यही है। उसके पीछे एक व्यापक संवेदनशीलता है जो फूल के एक दल से लेकर मनुष्य तक में मौजूद है। आदमी फूल और तितलियों से लेकर पक्षियों तक पर काव्य की रचना कर सकता है तो इसलिए क्योंकि जीवन के इस रहस्य से सभी बंधे हैं। यह कहा जा सकता है कि मानव चेतना और संवेदना का सारा परिवेश इस फूड चेन पर आधारित है।

ऊपर वर्णित फूड चेन के ठीक उलटा एक दूसरा फूड चेन व्यापक होता जा रहा है। इस फूड चेन के प्रारंभिक सिरे पर अनेक तरह के गोश्त का, जिन्हें विशाल स्लॉटर हाउसों में या पोल्ट्री फार्मों में कैद गाय, बैल, सूअर एवं मुर्गों को मारकर तैयार किया गया होता है, आयात किया जाता है। फिर यहां से अनेक तरह के वसा में तैयार तले-भुने पकवान, बिस्कुट आदि, जिन्हें चटपट खाया जा सकता है- लोहे, टीन, एल्मुनियम एवं प्लास्टिक से तैयार डब्बों में भरा जाता है और खर्चीले वाहन से उपभोक्ताओं तक पहुंचाया जाता है। इस प्रक्रिया में व्यवहार में आने वाले हर आइटम को बिजली या गैस की भट्टियों से गुजारा गया होता है, या ऊर्जा गटकनेवाले फ्रिजों में रखा गया होता है। इस फूड चेन की शुरुआत खेत-खलिहान या बागानों से नहीं होती, जहां पौधों में अन्न और वृक्षों में फल लगते हैं बल्कि किसी ख्यात खाद्य व्यवसायी कंपनी जैसे वॉल मार्ट से होती है, और खर्चीले विज्ञापनों एवं परिवहन के माध्यम से इन्हें संसार के हर कोने में फैले उपभोक्ताओं तक पहुंचाया जाता है। इसमें ऊर्जा के अति व्यय से एक तरफ वैश्विक ताप बढ़ता है और दूसरी ओर संपन्न लोगों में मोटापा और उससे जुड़ी बीमारियां, जिनके लिए खर्चीले अस्पतालों की व्यवस्था करनी होती है। विशाल पैमाने पर कोयला, तेल और गैस

से बिजली तैयार होती है या फिर बड़ी पनबिजली योजनाओं से जिनमें जंगल और आदमियों के आवास डूबते जाते हैं। डूबते जंगल जो कभी कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा को घटाते थे, अब ऐसी गैसों का उत्सर्जन करते हैं, जिनसे धरती का ताप बढ़ता है।

सबसे चिंता की बात यह है कि नई कृषि व्यवस्था में रोजगार देने की क्षमता नगण्य है। 1885 में अमेरिका की आधी से अधिक आबादी खेती में लगी थी। 1985 में यह संख्या पूरी आबादी के 3 प्रतिशत से कम है। यह भी दिलचस्प है कि जिस चमत्कार से यानी मशीनीकरण से आबादी का सिर्फ 3 प्रतिशत विशाल मात्रा में अन्न उत्पन्न करता है उसी का फल यह भी है कि वहां का काश्तकार विभिन्न यंत्रों पर खर्च किए गए 5 कैलोरी ऊर्जा से सिर्फ 1 कैलोरी देने वाला अनाज पैदा करता है। यानी अपनी क्षमता में यह कृषि ऋणात्मक है। इससे हम समझ सकते हैं कि अमेरिकी कृषि काश्तकारों को भारी सब्सिडी दिए बगैर जिंदा क्यों नहीं रह सकती। इस सब्सिडी को लेकर विश्व व्यापार संगठन में विकासशील देशों से वार्ता में गतिरोध बना हुआ है।

एक और बात ध्यान देने योग्य है। प्रारंभिक कृषि एक प्राकृतिक चक्र से बंधी थी, जिसमें घास, वृक्ष आदि का जो अवदान अन्न और मवेशियों को चारा देने में होता था, वह काफी कुछ पत्तों, पुआल, भूसा आदि के सड़ने या पशुओं के मल-मूत्र से जमीन में लौट आता था और उत्पादन चक्र को बिना विशेष क्षति के जारी रखता था।

इसके उलट, आधुनिक खेती उर्वरकों विशेषकर नाइट्रोजन देने वाले उर्वरकों पर निर्भरता एक दूसरा संकट करीब ला रही है। नाइट्रोजन प्रदान करने वाले उर्वरक का मूल स्रोत प्राकृतिक गैस है जो परिवहन में खर्च होने वाले ईंधन का भी सबसे आकर्षक स्रोत है क्योंकि यह कोयला या पेट्रोल से कम प्रदूषण फैलाता है। इस तरह हम मोमबत्ती को दोनों छोर पर जला रहे हैं। हमें उर्वरकों के लिए ज्यादा से ज्यादा प्राकृतिक गैस चाहिए और फिर परिवहन के लिए भी। हम कैसे एक संकट से उबरने के लिए दूसरे संकट में फंस रहे हैं, इसका एक उदाहरण पेट्रोलियम के घटते भंडार की आपूर्ति के लिए मक्का, ईख, जेट्रोफा आदि से एथानोल तैयार करने का प्रयास है। इन फसलों के लिए भी हमें प्राकृतिक गैस से नाइट्रोजन देनेवाले उर्वरक बनाने पड़ते हैं जो प्राकृतिक गैस की आपूर्ति पर नया बोझ डालता है। ये सब उपाय अंततः समस्याओं को अधिक मुश्किल बनाते हैं।

प्राकृतिक गैस के साथ-साथ दूसरे जीवाश्म ईंधन भी घटते जा रहे हैं। आज दुनिया भर की अनियंत्रित महंगाई के पीछे इन ईंधनों के भंडार का तेजी से घटते जाना है। 1960 के एक या दो डॉलर प्रति बैरल के मुकाबले आज कच्चे पेट्रोल (क्रूड) की कीमत सौ डॉलर के लगभग पहुंच गई है। इनके स्रोत जैसे-जैसे विरल होते जाएंगे, ये अधिक महंगे होंगे। चूंकि ये परिवहन से लेकर सभी तरह के उद्योग-धंधों और बिजली उत्पादन के लिए महत्वपूर्ण हैं। ये महंगे होते-होते कृषि समेत अधिकांश गतिविधियों के लिए दुर्लभ हो जाएंगे। आज की अनियंत्रित महंगाई भविष्य के ऐसे ही संकट का संकेत है, जहां जीवन के सारे व्यापार ठप हो जाएंगे।

इस समस्या का एक राजनीतिक आयाम भी है जो पार्श्वभूमि से व्यवस्था को टिकाए रखता है और इसको विकराल बनाता है। यह है औद्योगिक क्रांति और पूंजीवाद के विकास के साथ राष्ट्र-राज्यों का अस्तित्व में आना और वृहत आकार ग्रहण करते जाना। औद्योगिक क्रांति के पहले के दिनों में राज्य व्यवस्थाएं या तो राजाओं की साम्राज्य

विस्तार की लालसा का प्रतिफल होती थीं या कबीलाई अस्मिता और इसके दायरे की पहचान। सत्ताशील कबीलाई शिखर पुरुष की शक्ति का प्रतीक, इनका फैला हुआ राज्य या इनकी शानो-शौकत का इजहार करने वाली सजावट की वस्तुएं होती थीं लेकिन राज्य के विस्तार का इनकी समृद्धि से सीधा लगाव नहीं होता था। यूरोप में वर्तमान राष्ट्र-राज्यों की पृष्ठभूमि दूसरी से छठीं शताब्दी तक का वह कबीलाई संक्रमण काल है जिसे 'फॉल्केर वांडरूंग' का नाम दिया गया है। इसके क्रम में विभिन्न हिस्सों से और विशेषकर उत्तर-पूर्वी हिस्से से फैंक, अलिमानी गोथ, विसी गोथ, वांडल, एंग्लोसैक्सन आदि कबीलाई समूह यूरोप के विभिन्न भागों में आकर बस गए और पहले के निवासियों को या तो विस्थापित किया या उन पर वर्चस्व कायम किया।

यूरोप के ज्यादातर राष्ट्र-राज्यों का विकास इन्हीं के इर्द-गिर्द हुआ। औद्योगिक क्रांति एवं पूंजीवाद के विकास के साथ इन राष्ट्र-राज्यों के दायरे को विस्तृत और सख्त बनाया गया है, जिससे छोटे-छोटे दायरे को तथा पूंजी या दूसरे अवरोधों को निरस्त कर व्यापारिक गतिविधियां बड़े दायरे में हो सकें। नेपोलियन के सैनिक अभियानों के बाद पूरे यूरोप में राष्ट्रवादी उभार आया और राष्ट्र-राज्यों की शक्ति का संकेंद्रीकरण हुआ। इस संपर्क से संसार भर में राष्ट्रीय भावना का उन्मेष हुआ। पूंजीवादी हित से इसका गहरा रिश्ता इस बात में दिखता है कि इधर, हाल के दिनों में राष्ट्र-राज्य के विखंडन की एक स्वाभाविक प्रक्रिया शुरू हुई है। यूरोपीय यूनियन के अस्तित्व में आने के बाद यूरोप के राष्ट्र-राज्यों का आर्थिक सामरिक महत्व नगण्य हो गया है। इससे इनमें कबीलाई आधार पर विखंडन की प्रक्रिया भी शुरू हुई है। सर्बिया के वर्चस्व के विरोध में युगोस्लाविया के क्रोट आदि अलग हो गए हैं। चेकोस्लोवाकिया में चेक और स्लोवाक अलग राष्ट्र बन गए, ब्रिटेन में स्कॉट अलग होने के कगार पर हैं।

राष्ट्र-राज्यों का सबसे महत्वपूर्ण और भयावह पक्ष रहा है मिलिट्री इंडस्ट्रियल कॉम्प्लेक्स का अस्तित्व में आना। इससे राज्यों के सैनिक तंत्रों और औद्योगिक प्रतिष्ठानों का एक जबरदस्त गठजोड़ हुआ। 19वीं शताब्दी के अंत से लेकर आज तक राज्यों का स्वरूप चाहे जो रहा हो- राजशाही, तानाशाही या लोकशाही, फौज और इसकी जरूरतों को पूरा करनेवाले एक विशाल औद्योगिक तंत्र का गठजोड़ लगातार मजबूत हुआ है। फौज देश में व विदेश में जरूरत होने पर उद्योगों के हितों की रक्षा के लिए तत्पर रहती है और उद्योग उन्हें नवीनतम आयुध और दूसरी उपयोग की वस्तुएं मुहैया कराते रहते हैं। फौज के आयुधों की मांग औद्योगिक व्यवस्था की मंदी के संकट से उबारने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। अत्याधुनिक उपकरण पाने की होड़ में हर पांच दस साल में हथियार पुराने पड़ते जाते हैं और कबाड़ का ढेर बन जाते हैं पर, चूंकि इन्हें बाजार की जरूरत नहीं होती, इनके रहते हुए भी नित्य नए हथियारों का उत्पादन जारी रहता है। यह सुविधा उत्पादन के किसी दूसरे क्षेत्र में नहीं है क्योंकि स्टॉक का बिकना उत्पादन प्रक्रिया के चलते रहने के लिए जरूरी होता है।

आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था में राष्ट्र-राज्य और फौज के इस गठजोड़ की चर्चाएं इसलिए की गईं क्योंकि शुमाखर के 'स्मॉल इज ब्यूटीफुल' या गांधी के ग्राम गणराज्य की अवधारणा, जो किसी वैकल्पिक मॉडल की निर्देशिका होगी, वर्तमान फौजी राष्ट्र-राज्य के किसी मॉडल के साथ तालमेल नहीं बैठा सकती। अंतरिक्ष यानों पर अनुसंधान या

परमाणु हथियारों का विकास धरती के संसाधनों का सबसे खतरनाक और निरर्थक अपव्यय है। जरूरत वैसे विकास की है, जहां प्रकृति के स्वाभाविक रुझान, प्राकृतिक ऊर्जा के प्रवाह और धरती की बनावट के साथ कम से कम छेड़छाड़ हो। यह बड़े राष्ट्रों के ढांचों के साथ नहीं हो सकता। इनमें समय-समय पर होने वाली चुनावी कवायद के बावजूद असली सत्ता एवं संसाधनों का नियंत्रण अपने को लगातार फैलाने वाली नौकरशाही के हाथ में होता है। इसका सहज रिश्ता औद्योगिक प्रतिष्ठानों के उस तंत्र से बैठता है, जिसे प्रख्यात अर्थशास्त्री गैलब्रेथ ने टेक्नोस्ट्रक्चर का नाम दिया था। ये राष्ट्र-राज्य कैसे टूटेंगे, यह अभी दिखाई नहीं देता। इसके बगैर अति लघु इकाइयों में जनता के स्वनिर्णय के अधिकार की बात करने का कोई अर्थ नहीं होता। अभी हम जरूरी कदमों की कल्पना ही कर सकते हैं।

सबसे पहले तो वन प्रदेशों या अन्य जगहों में रहने वाले आदिवासियों के परंपरागत जीवन से कोई छेड़छाड़ नहीं होगी। इन्हें सैलानियों के हस्तक्षेप से भी मुक्त रखना होगा। वन प्रदेशों और आदिवासी-बहुल क्षेत्रों में परिवेश से छेड़छाड़ प्रतिबंधित होगी। मसलन, वनों की कटाई, खनिजों के लिए खनन, उनके लिए असुविधाजनक रेल या रोड का विस्तार, क्षेत्र में बहने वाली जलधारा, झरनों, नदियों आदि के प्रवाह को रोकना आदि। ये सब तो उन लोगों की जीवन पद्धति को बचाने के लिए होंगे, जो अब तक आधुनिक औद्योगिक सभ्यता की चपेट में नहीं आए हैं लेकिन इससे आगे बाकी लोगों के जीवन में भी बड़े परिवर्तन की जरूरत होगी। शहरीकरण की प्रक्रिया को पलटना होगा और कृषि और दूसरे उद्यमों को इस तरह वितरित करना होगा कि कृषि और उद्योग एक दूसरे से जुड़े और करीब हों। गांव में ही, जहां खेती होती है, लोगों की जरूरतों को पूरा करने के लिए लघु और कुटीर उद्योग लगेंगे।

संपन्न देशों के ध्रुव प्रदेशों की ओर रुख करने और ऊर्जा स्रोतों पर उनकी कंपनियों की लगभग पूरी इजारेदारी का असर कुछ वैसा ही हो सकता है जैसा सोवियत यूनियन के विघटन के बाद क्यूबा की अर्थव्यवस्था पर हुआ था। अचानक सोवियत यूनियन से प्राप्त होने वाले सस्ते पेट्रोलियम पदार्थों का मिलना बंद होने और क्यूबाई चीनी के लिए बाजार खत्म हो जाने से उसे अपनी अर्थव्यवस्था को बिल्कुल अलग तरह की दिशा देनी पड़ी। वहां के विशाल कृषि फार्मों को तोड़ छोटे सहयोगी फार्मों में बदल दिया गया। नियोजित ढंग से ट्रैक्टरों एवं पेट्रोल से चलने वाली खेती की दूसरी मशीनों की जगह बैलों से चलने वाले उपक्रम विकसित हुए। इसके लिए बैलों की वंशवृद्धि नियोजित ढंग से की गई। शहरों के इर्दगिर्द एवं शहरों में छोटी क्यारियाँ में साग-सब्जियों की खेती शुरू हुई, जिससे लोगों की फल-सब्जी आदि की जरूरतें पूरी की जा सकें। कृषि और उद्योगों के साथ-साथ और आत्मनिर्भर विकास से परिवर्तन का खर्च बिल्कुल कम हो गया।

आज के उन्नत औद्योगिक देशों के ध्रुव प्रदेश की ओर पलायन एवं जीवाश्म ऊर्जा के स्रोतों के विरल होने एवं उन पर संपन्न देशों की इजारेदारी के कारण अनुपलब्ध होने से आज के तथाकथित विकासशील देशों की भी वैसी ही स्थिति बनने वाली है, जैसी सोवियत यूनियन के विघटन के बाद क्यूबा की बनी थी। क्यूबा की तरह ही इन गरीब मुल्कों को भी यह सुविधा है कि ये अपेक्षाकृत गर्म प्रदेशों में हैं। इनकी ऊर्जा की जरूरत

विकसित देशों की तुलना में काफी कम है। इन्हें अपने घरों को गर्म रखने की जरूरत नहीं होती। इन गर्म प्रदेशों में मौसम के हिसाब से जीवन को गर्मी और सर्दी की अतियों से बचाने की पारंपरिक परिपाटी रही है, जिससे हजारों वर्ष से ये लोग जीवनयापन करते रहे हैं। अति ठंडे संपन्न देशों में भी आधुनिक ढंग से सर्दी झेलने का प्रबंध आदर्श नहीं कहा जा सकता। आर्कटिक प्रदेश के एस्कीमो सैकड़ों या हजारों वर्ष से वहां की भीषण सर्दी में सुविधा से जीने की पद्धति विकसित करने में सफल हुए हैं। इसी से अब तक उनके नजदीक के नार्वे, स्वीडन आदि के आधुनिक लोग ग्रीनलैंड में आधुनिक उपक्रमों के आधार पर रिहाइश बना नहीं पाए हैं। आस्ट्रेलिया के मूल निवासी वहां के मुश्किल रेगिस्तानी इलाकों में अपने छोटे घुमंतू गिरोहों में आखेट और कंद-मूल पर आधारित जीवन जी रहे हैं, जहां आधुनिक उपक्रमों से लैस यूरोपवासियों के लिए जीवन असंभव बना हुआ है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रतिभा ऐसी है कि वह कठिन से कठिन परिवेश के अनुरूप जीवन पद्धति विकसित कर हजारों वर्षों से अपना अस्तित्व बचाए रहा है। प्रदूषण व ऊर्जा का नया संकट झेलने की नई प्रविधि वे इसी तर्ज पर विकसित कर लेंगे। मानवजनित पर्यावरण के संकट के पहले मानव के पूर्वज ऊष्मता, सूखा और हिमयुग के कई काल झेल चुके हैं। आज पर्यावरण का संकट प्रलय जैसा इसलिए दिखाई देता है क्योंकि अल्पकालिक तकनीकी सफलता ने यह भ्रम पैदा कर दिया था कि मनुष्य प्रकृति की शक्तियों पर विजय प्राप्त कर सकता है और इसे अपने जीवन को इसके अनुकूल ढालने की कोई विवशता इसके सामने नहीं है। इस अहं से मुक्त हो मनुष्य अपने वैज्ञानिक ज्ञान का इस्तेमाल प्रकृति से सहज साहचर्य स्थापित करने में कर सकता है। अगर कोई विकल्प का मॉडल बनेगा तो उसकी वैचारिकी का यही सार तत्त्व होगा।

एक बात साफ दिखाई देती है। धरती के संसाधनों का संतुलित व जीवन के लिए जरूरी उपयोग तभी संभव है, जब आदमियों के बीच गैरबराबरी न हो और वे पारस्परिक सहयोग पर आधारित छोटी इकाइयों में रहें जैसे कृषि क्रांति के पहले के दिनों में रहते थे। तब जीवन का आधार फल-मूल जमा करना और आखेट था। आज हम उस अवस्था में नहीं जा सकते। उसका सबसे बड़ा कारण हमारी विशाल जनसंख्या है। इस भीड़ भरी दुनिया में खेती ही जीवन का आधार हो सकती है। कृषि छोटी व सहयोगी होगी। यह एक सोची-समझी बाध्यता होनी चाहिए, नहीं तो हम उन पुराने दिनों की तरफ लौट सकते हैं जब गुलामों व कृषकों का सहारा ले विशाल साम्राज्य कायम हुए। समाज में सब कुछ अनियंत्रित नहीं होता। काफी कुछ मूल्यों के आधार पर मनुष्यों की संस्कृति द्वारा निर्धारित होता है। दस हजार साल के इतिहास का सबक हमें ऐसे समाज के सांस्कृतिक निर्धारण में सहायक होगा और अंततः हममें यह विश्वास दृढ़ करेगा कि प्रकृति और समग्र जीव जगत की रक्षा के साथ ही हमारा अपना अस्तित्व भी जुड़ा है। 'स्काई इज द लिमिट' वाला विज्ञापन बकवास है। आदमी धरती से बंधा है और वह तभी तक जीवित रहेगा जब तक यह बंधन कायम है।

महाराष्ट्र नवजागरण

कर्मंदु शिशिर

ऐतिहासिक दृष्टि से महाराष्ट्र में धार्मिक आंदोलनों की शुरुआत 1840 से ही हो जाती है। भले ही बाद में चितपावन ब्राह्मणों के सामाजिक बहिष्कार की धमकी के आगे नतमस्तक हो गए मगर 1840 में जी.एच. देशमुख ने स्पष्ट कहा कि 'ब्राह्मणों को अपनी मूर्खतापूर्ण नीतियों को त्यागकर यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि सभी लोग समान हैं तथा हर एक को ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार है।' (स्त्री संघर्ष का इतिहास; पृष्ठ 63) जी.एच. देशमुख का पूरा नाम गोपाल हरिदेशमुख था, जो मराठी में लिखते थे और हिंदू धर्म की रूढ़ियों पर बहुत तीखा प्रहार करते थे। वे लोकहितवादी (1823-1892) नाम से ज्यादा प्रसिद्ध थे। उनका सामाजिक-धार्मिक प्रश्नों पर 'शतपत्रे' नामक सौ पत्रों का संकलन है। उनका विश्वास था कि धर्म मनुष्य ने बनाया है, और वह मनुष्य की सेवा के लिए है न कि मनुष्य उसकी सेवा के लिए है। उनके अनुसार अगर मौजूदा धर्म परिवर्तनों को नहीं मानते, तो न मानें। धर्म के मतों में ही परिवर्तन कर दिए जाने चाहिए। किसी भी कीमत पर धार्मिक मतों को परिवर्तन और प्रगति के मार्ग में रोड़ा नहीं बनने देना चाहिए। उनका विश्वास था कि धर्म देश काल के अनुसार होना चाहिए। वे वैदिक शिक्षा को एकदम अप्रासंगिक मानते थे। महाराष्ट्र में सबसे पहले अपेक्षाकृत अल्पख्यात् परमहंस मंडली ने मूर्ति पूजा और जाति प्रथा के विरोध की शुरुआत की। ये विधवा विवाह का भी समर्थन करते थे। अगर आप बंगाल नवजागरण से इसे जोड़कर देखें तो, इसमें जाति-प्रथा का विरोध एक नया तत्व था। बंगाल नवजागरण में भी जाति विरोधी तत्व था मगर

महाराष्ट्र में उसका स्वर तीखा और प्रमुखता का था। यह कोई मामूली परिवर्तन नहीं था। इससे रूढ़िग्रस्त जाति-व्यवस्था पर सीधी चोट पड़ी, जो आगे इतिहास में एक महान् सामाजिक क्रांति के रूप में रेखांकित भी हुई।

आगे चलकर आधुनिक विचारों के आलोक में हिंदू धर्म की रूढ़ियों और सामाजिक जकड़बंदियों से मुक्ति के लिए 1867 में प्रार्थना-समाज की स्थापना हुई। इसमें जातिगत विभेदों और रूढ़ियों पर चोट की गई। इसने दलितों, अछूतों और पीड़ित समाजों में बुनियादी सुधार करने की दिशा में अनेक सुधारवादी कार्यक्रमों की शुरुआत की। इसके लिए इस संस्था के अंतर्गत दलित जातिमंडल, समाज सेवा संघ जैसे संगठनों का निर्माण किया गया। इसमें डॉ. आत्माराम पांडुरंग जैसे अपने समय के ख्यातिलब्ध विद्वान का नेतृत्व और योगदान शामिल था। इसमें महान संस्कृत विद्वान आर.जी. भंडारकर और महादेव गोविंद रानाडे जैसी महान विभूतियां भी शामिल हुईं। संयोग से ये दोनों सहपाठी भी थे। रानाडे ने विधवा पुनर्विवाह संघ और दक्कन शिक्षा सभा की भी स्थापना की। लेकिन विष्णुशास्त्री चिपलूणगर, गोपाल गणेश अगरकर, महादेव गोविंद रानाडे, गोपालकृष्ण गोखले, रमाबाई, रमाबाई रानाडे, रामकृष्ण गोपाल भंडारकर और विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े सहित तमाम नवजागरण नायकों के कार्यों का आकलन करें, तो प्राच्यवाद, बुद्धिवाद, स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह सहित वे तमाम मुद्दे महाराष्ट्र नवजागरण में मिलेंगे, जो बंगाल नवजागरण में उठे या उठाए गए। स्त्री-शिक्षा को लेकर रमाबाई और रमाबाई रानाडे के योगदान और प्रयत्नों से, उसमें तेजी ही दिखती है।

महाराष्ट्र नवजागरण के आसंग में तुकाराम, नामदेव और ज्ञानेश्वर जैसे संतों की परंपरा की भूमिका का भी आकलन किया जाना चाहिए। इसके साथ ही इस बात पर भी गौर करना पड़ेगा कि बंगाल और महाराष्ट्र की शासन व्यवस्था में भी फर्क था। तीसरी बात दोनों क्षेत्रों के नवजागरण सेनानियों की भूमिकाओं के अंतर को भी देखना होगा। ये बातें अतिरिक्त अनुसंधान और विचार की मांग करती हैं। जाहिर है यहां हम, इसके विस्तार और बारीकियों में नहीं जा रहे हैं। हम सिर्फ मुख्य नायकों के उठाए कुछ मुद्दों के माध्यम से इसे समझने की आसान राह अपनाना चाहेंगे।

महादेव गोविंद रानाडे

महाराष्ट्र के नवजागरण में महादेव गोविंद रानाडे की भूमिका को इतिहासकारों ने विशेष जगह दी है, जो उचित ही है। वैसे बाल शास्त्री जंबेकर ने दिग्दर्शन और बंबई दर्पण (द्विभाषिक) पत्रिका के द्वारा इसकी शुरुआत पहले ही कर दी थी। भाऊ महाजन की प्रभाकर और दादा भाई नौरोजी की रास्तगोफ्तार ने इस परंपरा को लगातार बनाए रखा और ठोस जमीन तैयार की। उस समय बंबई का एलफिंस्टर संस्थान यूरोप और भारतीय विचारों का संगम स्थल जैसा था। रानाडे की शिक्षा वहीं हुई। यह संस्थान सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक सोच के मामले में अग्रणी था। वहां पहले भारतीय प्राध्यापक

बाल शास्त्री जंबेकर बने थे, जिन्होंने शिक्षा और सामाजिक सुधारों की ओर अपने छात्रों को प्रेरित किया। रानाडे को उनके साहचर्य का दुर्लभ संयोग मिला। प्राच्य विद्या के विश्व प्रसिद्ध विद्वान रामकृष्ण गोपाल भंडारकर उनके सहपाठी थे। अन्य सहपाठियों में आबाजी मोदक और मंगेश वागले जैसे (प्रसिद्ध कानूनविद्) लोग भी थे, जिन्होंने मिलकर प्रार्थना समाज जैसी सामाजिक सुधार की संस्था स्थापित की। छात्र जीवन में ही रानाडे के दो लेख प्रकाशित हुए, जिसमें उन्होंने ब्रिटिश सरकार की आलोचना की थी। उसमें उनके विचार आने वाली गतिविधियों के संकेत दे रहे थे। उन्होंने लिखा- 'देश में इस समय विद्यमान इतनी घातक छटपटाहट और पूर्ण विनाश के बीच, संवेदनशील और पूर्ण विनाश से परिपूर्ण छाती कुछ समय तक उन पुराने दिनों (मराठा शक्ति के उदय) की शुद्ध हवा में सांस लेना पसंद कर सकती है जब राष्ट्र के पास धन, सम्मान, स्वतंत्रता थी।' (महादेव गोविंद रानाडे; पृ. 12) अपनी पढ़ाई के दौरान रानाडे ने खूब जमकर अध्ययन किया। अध्ययन करने के इसी दौर में उन्होंने मराठी-अंग्रेजी पत्र 'इंदुप्रकाश' के अंग्रेजी खंड का संपादन भार भी ले लिया। यह सामाजिक सुधारों की मुख्य पत्रिका थी। उस समय विधवा विवाह का आंदोलन ईश्वरचंद विद्यासागर के नेतृत्व में बंगाल से बाहर भी फैल रहा था। महाराष्ट्र में विष्णुशास्त्री पंडित ने उनकी पुस्तक का अनुवाद ही नहीं किया, बल्कि विद्यासागर से प्रभावित होकर विधवा विवाह का आंदोलन ही खड़ा कर दिया। 1865 में विधवा पुनर्विवाह संघ का जो गठन हुआ, उसमें रानाडे भी शामिल थे। गोपाल हरिदेशमुख ने लोकहितवादी पत्रिका निकाली, जिसने सती प्रथा, भ्रूण हत्या, बाल-विवाह, विधवा विवाह, छुआछूत जैसी समस्याओं को लेकर हिंदू धर्म की रूढ़ियों और संकीर्णताओं पर सीधे चोट की। जाहिर था इसके प्रतिवाद में कट्टरवादी और रूढ़िवादी लोग भी एकजुट हुए। इस बीच 1871 में रानाडे प्रथम श्रेणी और प्रथम वर्ग के न्यायाधीश बन चुके थे और उनका स्थानांतरण पुणे हो गया था। वहां उनके सहपाठी आबाजी मोदक ने 1870 में ही प्रार्थना समाज की शाखा खोल दी थी। रानाडे अपने लेखन और व्याख्यानों द्वारा सामाजिक परिवर्तन की अलख जगाते रहे। महादेव गोविंद रानाडे, उस हर सामाजिक और धार्मिक प्रथाओं का विरोध कर रहे थे, जो मनुष्य की गरिमा और मानवतावाद के विरुद्ध थीं। उनका विश्वास था कि भारतीय समाज में बुनियादी बदलाव हो रहे हैं। उन्होंने लिखा- 'इस तरह हम सबको जिस परिवर्तन की कोशिश करनी है, अंकुश से स्वतंत्रता की ओर आंख मूंदकर विश्वास से निष्ठा की ओर, पूर्व निर्धारित सामाजिक हैसियत से समझौते की ओर, थोपी गई सत्ता से तर्क की ओर, असंगठित जीवन से संगठित जीवन की ओर, धर्मधता से सहिष्णुता की ओर, अंध भाग्यवाद से मानवीय गरिमा की भावना की ओर परिवर्तन है।' इन विचारों के विभिन्न दिशाओं और क्षेत्रों के संकेतों पर गौर करें, तो हम रानाडे के परिवर्तन आकांक्षी मानस का सहज ही अनुमान कर सकते हैं। उसी समय दादाभाई नौरोजी के लगातार अर्थव्यवस्था संबंधी लेखों और विचारों के कारण रानाडे ने इस दिशा में भी गहन अध्ययन किया और भारत की आर्थिक दशा पर उन्होंने भी लेख

लिखे, व्याख्यान दिए। पुणे में रानाडे बाइस वर्षों तक रहे और इस बीच उन्होंने वहां काफी काम किए। सार्वजनिक सभाएं कीं, त्रैमासिक पत्रिका निकाली, जगह-जगह भाषण दिए, इसके लिए कई संगठनों का निर्माण कराया। टाऊनहाल, सार्वजनिक पुस्तकालय, बर्नाकुलर अनुवाद सोसाइटी, फर्ग्युसन कॉलेज, एक महिला हाई स्कूल, औद्योगिक सम्मेलन और प्रदर्शनी का आयोजन, कागज, धातु और कपड़े की कंपनी और रीए संग्रहालय स्थापित कराए। प्रार्थना समाज का अपना भवन निर्मित कराया। मसलन पुणे को वैचारिक और सांस्कृतिक केंद्र के रूप में उन्होंने विकसित किया।

जब ह्यूम ने 'कांग्रेस' गठन के सिलसिले में पुणे की यात्रा की, तो रानाडे के बारे में सुना, देखा और उनसे मिलकर इतना प्रभावित हुए कि उनको हमेशा अतिरिक्त सम्मान देते रहे। यह बात कम प्रचारित है कि नेशनल कांग्रेस का नामकरण भी रानाडे ने ही किया था। कांग्रेस में, उनका इतना आदर था कि 1895 को पुणे में आयोजित कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता के लिए जब, उन्होंने तार भेजा तो सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने तुरंत उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। आगे चलकर जब कांग्रेस में राजनीति और सामाजिक सुधारों पर बहस हुई, तो रानाडे ने जोर देकर सामाजिक सुधारों तक ही कांग्रेस की गतिविधियों को सीमित रखा। इससे उनका मतभेद बाल गंगाधर तिलक से बढ़ा। तिलक स्त्री शिक्षा और विधवा विवाह को लगातार नकार रहे थे, सामाजिक मामलों में वे कट्टरपंथी गुट के प्रबल पक्षधर थे। तिलक में अंतर्विरोध स्पष्ट था। वे जहां एक ओर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रति अत्यंत कट्टर थे, वहीं सामाजिक मुद्दों पर बेहद ऑर्थोडॉक्स! उन्होंने रमाबाई के शारदा सदन की भी आलोचना की। उनका विरोध, इतना तीखा था कि इन पक्षों की आलोचना में गाली-गलौज और कटुता पर भी उतर आए थे। उन्होंने अपने पत्र केसरी में यहां तक लिखा कि 'रानाडे, भंडारकर और तेलंग लोगों के लिए बर्बादी लेकर आए हैं। इन्हें शरीर के बीमार अंग की तरह काटकर अलग किया जाना चाहिए।' मगर रानाडे को चुनौती देना आसान न था। वे अब सामाजिक सुधारों की राष्ट्रीय हस्ती हो चुके थे। गोपाल कृष्ण गोखले जो आगे चलकर महात्मा गांधी के गुरु बने, वे स्वयं रानाडे के शिष्य थे। वे 1886 में दक्कन शिक्षा संघ के सदस्य बने थे। इसी बीच 1893 में वे उच्च न्यायालय के न्यायाधीश बन गए। जूनागढ़ के दंगे में तिलक का सांप्रदायिक रुझान सार्वजनिक रूप से व्यक्त हुआ, तो रानाडे ने उनका तीखा विरोध किया। वे सांप्रदायिकता के लिए किसी एक संप्रदाय को दोषी ठहराने के विरोध में थे। तिलक अपने तीखे प्रतिवाद से रानाडे की ब्रिटिश और पाश्चात्य समर्थक छवि बनाने में लगे रहे। गणेश उत्सव की शुरुआत और तीखे ब्रिटिश विरोध से भले ही उन्होंने अपने लिए राजनीतिक स्पेस बना लिया, मगर रानाडे के सामाजिक सुधारों की लौ नहीं बुझी।

ज्योतिबा फुले

तब तक महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले जैसे नए नायक का उदय हो चुका था और सामाजिक परिवर्तन का विस्तार लगातार बढ़ रहा था। आगे चलकर इतिहास ने यह सिद्ध किया कि जो बात, जो मुद्दा महाराष्ट्र के नवजागरण को बंगाल के नवजागरण से अलग करता था, वह था- ब्राह्मणवाद का विरोध। महात्मा ज्योतिबा फुले इसके प्रणेता थे। ध्यान देने वाली बात यह है कि बंगाल नवजागरण में ब्रिटिश सत्ता के प्रति जो आलोचनात्मक संतुलन था वह सब महाराष्ट्र के नवजागरण के शुरुआती दिनों में दिखाई नहीं देता, बल्कि वहां तो ज्योतिबा फुले ने 1857 ई. के असफल होने के बाद जीतकर लौटे ब्रिटिश सेना के सैनिकों का अभिनंदन तक किया था। मसलन-वे अंग्रेजी राज के बने रहने के पक्ष में थे। इस अंतर्विरोध को समझने के लिए हमें महाराष्ट्र के तत्कालीन गायकवाड़ राज की वास्तविकता पर गौर करना होगा।

गायकवाड़ का राज अपने समय का एक विशाल राज्य होते हुए भी अपने शासन में वैचित्र्य लिए हुए था। प्रसिद्ध विद्वान तर्कशास्त्री लक्ष्मणराव जोशी ने महात्मा ज्योतिबा फुले की जीवनी लिखते हुए पृष्ठभूमि में ये बातें लिखी हैं। उनके अनुसार वहां ब्राह्मणों की जबर्दस्त प्रधानता थी और किसी भी बड़े पद के लिए व्यक्ति का ब्राह्मण होना अनिवार्य था। इतना ही नहीं, बल्कि हत्या और बलात्कार जैसे जघन्य अपराध करने पर भी ब्राह्मणों को सिर्फ भर्त्सना करके छोड़ दिया जाता था, जबकि गैर-ब्राह्मणों को फांसी तक दे दी जाती थी। वहां की दलित और अछूत जातियों को न तो कोई नागरिक अधिकार हासिल थे और न ही उनके पास जीने के मूलभूत साधन थे। इस विषम जातीय व्यवस्था ने वहां की स्थिति इतनी नारकीय बना दी थी कि वहां की गैर ब्राह्मण जातियों के लिए औद्योगिक क्रांति के बाद आए आधुनिक अंग्रेज एक मुक्तिदाता की तरह लग रहे थे। जाहिर था ऐसी स्थिति में ज्योतिबा फुले का अंग्रेजी राज को बनाए रखने का आग्रह बिल्कुल स्वाभाविक था। लेकिन ज्योतिबा फुले के विचारों और कार्यों के साथ उनके जीवन पर भी गौर करें तो उनका मानस निश्चित रूप से एक महान संत का था। लेकिन वे संत परंपरा के भंजक महात्मा थे। उनमें कबीर का विद्रोही स्वभाव था। उन्होंने नारायण गुरु वाली विनम्र वाणी नहीं अपनाई। उन्होंने तमाम ब्राह्मणवादी व्यवस्थाओं का जोरदार खंडन किया। जाति-व्यवस्था के विरुद्ध तीखे प्रहार वाली शैली और कठिन प्रतिरोधी संघर्ष में उन्होंने अपना जीवन होम कर दिया। उनके बहुविध कार्यों और समग्र रचनाओं से गुजरते हुए आप उनके दग्ध हृदय के आक्रोश और गहरी करुणा को महसूस कर सकते हैं। उन्होंने एकनाथ, ज्ञानेश्वर, तुकाराम से लेकर महाभारत, उपनिषद और अन्य ग्रंथों के साथ-साथ मिल और स्पेंसर जैसे विचारकों को भी पढ़ा था। शिवाजी पर पवारों शैली में उनका एक काव्य भी है। वे अपने युग के रिवेलियन थे। शिक्षा के क्षेत्र में अथवा स्त्री-शिक्षा को लेकर उनके किए गए कार्य ब्राह्मणवादी व्यवस्था के पाखंड और कुरीतियों के विरुद्ध उनका लेखन अपनी जगह महत्वपूर्ण तो है ही, लेकिन उनके जचकी आश्रम के पीछे की भावना तो,

उन्हें एक अद्वितीय महामानव ही बना देती है। यह आश्रम अनचाहे गर्भ धारण करने वाली स्त्रियों के लिए था, जिसमें बड़ी संख्या सवर्ण विधवाओं की थी। विधवा समस्या ब्राह्मण समाज की समस्या थी, न कि दलित समाज की। बाल विवाह और स्त्री शिक्षा के अभाव ने विधवा समस्या को अत्यंत जटिल बना दिया था। ऐसी विधवाएं सामान्यतया परिवार में अपने निकट परिजनों के द्वारा ही गर्भवती बना दी जाती थीं। फिर वे ही परिजन और परिवार उन्हें निष्कासित कर बेसहारा कर देते थे। इन सबके त्राता और पिता बनकर ज्योतिबा फुले सामने आते हैं। उन्होंने एक ऐसा आश्रम खोला, जिसमें कोई भी परित्यक्त गर्भवती स्त्री आकर न सिर्फ अपना बच्चा जन सकती है, बल्कि वह जब तक चाहे, तब तक वहां रह भी सकती है। जाहिर है इस भावना के पीछे मानवता के महान मूल्य थे, न कि जातिगत संकीर्णता। शायद यह भी एक कारण था कि इसे वहां का ब्राह्मण समाज पचा नहीं पा रहा था। वे ज्योतिबा फुले का जबर्दस्त विरोध कर रहे थे। ब्राह्मणों में आठ वर्ष की बाल विधवाओं तक को सिर मुड़ाकर जीवन भर घर की चाकरी करनी पड़ती थी। उनका जीवन अत्यंत दयनीय था। 1873 ई. में ज्योतिबा फुले ने सत्यशोधक समाज की स्थापना पहले पूना तथा बाद में बंबई में की। इस संगठन की प्रगतिशीलता समय से आगे तो थी ही, अपने उद्देश्य को मूर्त रूप देने वाली ठोस भी थी। यह विधवाओं के पुनर्विवाह के साथ-साथ अंतरजातीय विवाह भी करवाती थी और सबसे बड़ी बात यह कि ऐसे विवाह सुरुचि संपन्न, सादे ढंग से किसी गैर ब्राह्मण पुजारी द्वारा संपन्न कराए जाते थे। मगर उस काल में यह सब आसान मामला नहीं था। पूरी तरह ब्राह्मणों के नियंत्रण में रहने वाले समाज की मुक्ति ब्राह्मणों को विकल, बेचैन कर रही थी और वे भी प्राणप्रण से संगठित विरोध को तत्पर थे। 1873 ई. में मराठी ब्राह्मणों ने वेदों और शास्त्रों की वर्चस्व वाली नवगठित समिति में हिस्सा लिया। 1857 ई. में जब दयानंद सरस्वती बंबई आए तो उनकी सभाओं में महादेव गोविंद रानाडे से ज्योतिबा फुले तक ने भाग लिया। पंडिता रमाबाई ने जब पूना में आर्य महिला सभा की स्थापना की तो उसमें अनेक लोग शामिल हुए। वे नवजागरण की महान नेत्री थी। इस सबका इतना सुफल अवश्य निकला कि बंगाल के साथ पूरे देश में स्त्री शिक्षा का प्रसार महाराष्ट्र में सबसे अधिक हुआ।

पंडिता रमाबाई

पंडिता रमाबाई का जन्म 23 अप्रैल 1858 ई. को पश्चिमी महाराष्ट्र में हुआ था। उनके पिता अनंत शास्त्री अपनी पत्नी को पढ़ाना चाहते थे इसलिए उनको बिरादरी से ही अलग नहीं होना पड़ा, बल्कि जंगल तक में जाना पड़ा। वहीं रमाबाई का जन्म हुआ। माता-पिता के साथ वे इस शहर से उस शहर भटकती रहीं। उनके पिता जीवन भर स्त्री शिक्षा का अलख जगाते रहे। 1877 में दोनों के निधन हो जाने पर रमाबाई अपने पिता के कार्यों को आगे बढ़ाती रहीं। उनकी ख्याति एक उपदेशक वक्ता के रूप में कलकत्ते तक पहुंची। वहां से आमंत्रण मिलने पर, वे कलकत्ता आईं और अपने ओजस्वी और प्रखर व्याख्यान

से सबको चमत्कृत कर दिया। कलकत्ते जैसे बौद्धिक संपन्न नगर में अपने व्याख्यान से लोगों को प्रभावित करना, कोई सामान्य बात नहीं थी, लेकिन उन्होंने इसे किया। वहीं उन्होंने एक शूद्र जाति में जन्मे वकील विपिन बिहारी मेधावी से विवाह भी कर लिया। 1882 ई. में पति का निधन हो जाने पर वे पूना आ गईं और आर्य महिला समाज की स्थापना की। 1882 ई. में भारत सरकार द्वारा गठित शिक्षा संबंधी आयोग को दिए, उनके सुझाव तत्कालीन पत्रों में बहुत चर्चित हुए थे। दरअसल उन्हें महिलाओं को मेडिकल शिक्षा लेने की बात करके रूढ़िवादियों में खलबली पैदा कर दी थी। मगर इससे महारानी विक्टोरिया तक, उनसे बहुत प्रभावित हुई। वे 1883 ई. में इंग्लैंड गईं और शिक्षिका तथा ईसाई धर्मोपदेशक के रूप में चर्च में दाखिला ले लिया। फिर वे अमेरिका भी गईं। फिर उन्होंने बंबई में विधवाओं के लिए शारदा सदन स्कूल खोला। उस रूढ़िवादी और पुनरुत्थानवादी परिवेश में पंडिता रमाबाई ने एक तरह का बवंडर खड़ा कर दिया। वे स्त्रियों का धर्मांतरण कराने लगीं। इसका असर तिलक पर भी पड़ा और वे विवशता में ही सही, लेकिन स्त्री शिक्षा के लिए राजी हो गए। उन्होंने विवाह की न्यूनतम सीमा भी दो वर्ष अधिक 10 से 12 मान ली। तिलक एक तरफ ईसाई तो दूसरी तरफ इस्लाम के विरोध में थे और उन्होंने शिवाजी तथा गणेशोत्सव से हिंदुत्व की एक नई शुरुआत कर दी थी। यह बात आगे चलकर पुनरुत्थानवाद को संगठित रूप से दीर्घजीवी बनाने की सफल कोशिश के रूप में मूर्त हुई। दूसरी ओर ज्योतिबा फुले और रमाबाई की ये कोशिशें महाराष्ट्र नवजागरण को अत्यंत महत्वपूर्ण बना रही थी क्योंकि इसका प्रभाव हिंदी क्षेत्र और हिंदी नवजागरण पर भी पड़ रहा था। लेकिन महाराष्ट्र का आंदोलन अनेक दृष्टियों से बंगाल के आंदोलन से काफी भिन्न था। महाराष्ट्र के आंदोलन में धार्मिक और स्त्रियों के अधिकार संबंधी सामाजिक सुधारों के अलावा, उसमें दलितों का सवाल विशेष रूप से जुड़ा हुआ था इसलिए वहां सामाजिक प्रतिक्रिया, उसे एक नया स्वरूप दे रही थी। वहां ब्राह्मण समर्थित सवर्ण आंदोलन तिलक तक आते-आते साम्राज्यवाद विरोधी स्वरूप अख्तियार कर लेता है। लेकिन तिलक के चिंतन में सामाजिक पिछड़ापन खासतौर से दलितों और स्त्री शिक्षा को लेकर यथावत बना रहता है। इस तरह महाराष्ट्र के आंदोलन की जटिलताएं तत्कालीन सामाजिक यथार्थ का प्रतिफलन थीं। इस पर विचार करते समय इन पहलुओं को भी ध्यान में रखना होगा।

तिलक का सामाजिक पिछड़ापन ब्राह्मणवाद की कट्टरवाद की कट्टरता से गहरे प्रभावित था। यह तिलक का एक पक्ष था क्योंकि दूसरी ओर वे अत्यंत प्रखर और क्रांतिकारी रूप से घोर साम्राज्यवाद विरोधी थे। उनके साम्राज्यवाद विरोध की प्रशंसा लेनिन तक ने की थी। राजनीतिक रूप से, उनकी सक्रियता पूरे देश को प्रभावित कर रही थी। सामाजिक और राजनीतिक अंतर्विरोधों के बावजूद उनको न तो हम पूरी तरह से नकार सकते हैं, न ही पूरी तरह स्वीकार कर सकते हैं। यह सच है कि उनका असर दूसरों के मुकाबले हिंदी क्षेत्रों में गहरा था। ऐसा इसलिए था क्योंकि बंगाल, महाराष्ट्र और

दक्षिण क्षेत्र की तुलना में हिंदी क्षेत्र का नवजागरण का रुख साम्राज्यवाद विरोधी था। 1857 का यही क्षेत्र केंद्र था। यह बात भी स्वीकार करनी पड़ेगी कि तब मुख्य अंतर्विरोध साम्राज्यवाद विरोध का ही था। यही कारण था कि तिलक का असर हिंदी क्षेत्र में ज्यादा गहरा और सघन रूप से पड़ा।

तिलक के सामाजिक सुधारों के प्रति उपेक्षा के कारण ही उनके अभिन्न सहयोगी गोपाल गणेश आगरकर ने उनका साथ छोड़ दिया था। वे बड़े ही संघर्ष से ऊपर उठे थे और अनेक जलालतें झेलकर तिलक के साथ केसरी और अंग्रेजी पत्र मराठा में साथ काम करते थे। अंत में उन्होंने तिलक से नाता तोड़कर सुधारक नामक पत्र का संपादन किया जो घाटे में चला। स्त्री-शिक्षा और विधवा-विवाह के कारण उनको हत्या की धमकी मिली, उनके जीते-जी शमशान यात्रा निकाली गई और सुधारक की होली जलाई लेकिन उनका संकल्प था- 'जो उचित है, वह कहूंगा, जो संभव है- वह करूंगा।' जब महर्षि केशव कर्वे ने विधवा से विवाह किया तो उनको अपने घर आमंत्रित कर आदर-सत्कार किया। इसकी तीखी सामाजिक प्रताड़ना सहनी पड़ी। मात्र 39 वर्ष की आयु में उनका निधन हुआ। आगरकर और चिपलूणकर महाराष्ट्र नवजागरण के बड़े नायक थे।

हिंदी नवजागरण पर प्रभाव

रामविलासजी भारतीय नवजागरण का विवेचन करते हुए महाराष्ट्र नवजागरण की चर्चा नहीं करते। अगर हम जहां-तहां उल्लेख, प्रसंगवश चर्चा या संदर्भ आने पर विमर्श की बात छोड़ दें, तो वे 19वीं शताब्दी के महाराष्ट्र नवजागरण पर आनुषंगिक चर्चा ही करते हैं। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती में महाराष्ट्र नवजागरण से जुड़ी ऐसी काफी सामग्री प्रकाशित की थी, इसलिए उस संदर्भ में आई संक्षिप्त चर्चाओं को हम अपवाद मानते हैं। बंगाल नवजागरण में भी राजा राममोहन राय, विद्यासागर, बंकिम बाबू और रवींद्रनाथ टैगोर की विस्तार से चर्चा के पीछे, उनका उद्देश्य जातीय अवधारणा की ही पुष्टि लगता है। ध्यान देने वाली बात यह है कि बंगाल और महाराष्ट्र नवजागरण का सीधा असर हिंदी नवजागरण पर था। शारदाचरण मित्र हिंदी भाषा पर जोर दे रहे थे और चिंतामणि घोष ने ही हिंदी में 'सरस्वती' जैसी पत्रिका की शुरुआत की। अमृतलाल चक्रवर्ती जैसा प्रखर पत्रकार श्रीवेंकटेश समाचार पत्र में सक्रिय था। भूदेव मखोपाध्याय ने तो बिहार में शिक्षा और खासकर हिंदी शिक्षा की नींव ही रखी। उनकी चर्चा रामविलासजी ने भी की है। अन्य कई बंगाली विद्वान हिंदी क्षेत्र में सक्रिय थे। उधर महाराष्ट्र से माधवराव सप्रे और बाबूराव विष्णु पराड़कर जैसे नवजागरण के अग्रदूत थे, जो हिंदी क्षेत्र में प्राण-प्रण से लगे थे। बावजूद रामविलासजी ने महाराष्ट्र नवजागरण के हिंदी नवजागरण पर पड़े असर पर कोई स्वतंत्र और उल्लेखनीय रोशनी नहीं डाली है। उनसे यह अपेक्षा सहज थी कि ब्राह्मणवाद विरोधी, इस महत्वपूर्ण सामाजिक नवजागरण के मुद्दे को, वे राधामोहन गोकुल, राधाचरण गोस्वामी से संतराम बी.ए. और स्वामी अछूतानंदजी तक की परंपरा से जोड़कर

उसका विवेचन करते। उनके काम करने का मतलब और प्रभाव ही अलग था। इससे हिंदी नवजागरण संबंधी अनेक विवाद भी शामिल होते। मगर जो बात सबसे ज्यादा सोचने को विवश करती है कि रामविलासजी ने ज्योतिबा फुले जैसे विलक्षण सामाजिक संत की कैसे उपेक्षा की? ब्राह्मणवाद का विरोध महाराष्ट्र नवजागरण ही नहीं बल्कि पूरे भारतीय नवजागरण की तस्वीर ही बदल देता है, मगर इसके बावजूद वह उनके विवेचन से अछूता रहता है। ऐसे में बेशक दक्षिण भारत के उग्र ब्राह्मणवादी आंदोलनों की अनदेखी तो स्वाभाविक है ही। ऐसे में ब्राह्मणवाद विरोधी चिंतकों के बीच रामविलासजी के नवजागरण की कतिपय कटु आलोचनाओं को इसी आसंग में देखना-समझना होगा। नवजागरण के इतने बड़े अध्येता से सामाजिक नवजागरण के इतने ज्वलंत और बड़े मुद्दे की अनदेखी वाकई चिंतनीय और विचारणीय बात तो है ही बल्कि, उनके अनेक आलोचकों की राय है कि वे मूलतः तिलकवादी थे। ऐसे विचारकों का मत यह है कि महावीरप्रसाद द्विवेदी पर भी तिलक के विचारों का गहरा असर था। यही कारण है कि द्विवेदीजी ने ज्योतिबा फुले अथवा सामाजिक आंदोलनों से सायास-अनायास परहेज रखा। इसके प्रतिकार में अपना मत रखने वाले विचारक, इसके पीछे साम्राज्यवाद विरोधी रुख देखते हैं और इसे तत्कालीन समय में जरूरी मानते हैं। उनके अनुसार हिंदी क्षेत्र में सामाजिक समस्या महाराष्ट्र अथवा दक्षिण भारत की तरह भी नहीं लेकिन तर्क चाहे जितने सबल और सार्थक हों। ज्योतिबा फुले, महादेव गोविंद रानाडे, वीरेशलिंगम, नारायण गुरु जैसे महान नवजागरण नेताओं की अनदेखी किसी भी नजरिए से उचित नहीं। बंगाल से महाराष्ट्र और सुदूर दक्षिण भारत प्रभावित हो जाता है और समीप का हिंदी प्रदेश अनभिज्ञ? यह चूक महावीर प्रसाद द्विवेदीजी और रामविलासजी पर प्रश्नचिन्ह खड़ी करती है, इसमें संदेह नहीं।

कथा-सम्राट प्रेमचंद की दुर्लभ एवं असंदर्भित कहानी
रक्षा में हत्या

पुनर्प्रस्तुति – प्रदीप जैन

प्रेमचंद के जीवन-काल में उनकी अनेक कहानियों के अनुवाद जापानी, अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं में तो हुए ही, साथ ही अनेक भारतीय भाषाओं में भी उनकी कहानियां अनूदित होकर प्रकाशित हुईं।

प्रेमचंद ने 1928 में नागपुर (महाराष्ट्र) के श्री आनंदराव जोशी को अपनी कहानियों का मराठी अनुवाद पुस्तकाकार प्रकाशित कराने की अनुमति प्रदान की थी। प्रेमचंद के देहावसान के पश्चात् 'हंस' का मई 1937 का अंक 'प्रेमचंद स्मृति अंक' के रूप में बाबूराव विष्णु पराडकरजी के संपादन में प्रकाशित हुआ था, जिसमें आनंदराव जोशी का लेख 'प्रेमचंदजी की सर्वोत्तम कहानियां' (पृष्ठ 927-929) शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। इस लेख में प्रस्तुत विवरण से स्पष्ट है कि अनुवाद हेतु कहानियों का चयन करने के लिए प्रेमचंद और आनंदराव जोशी के मध्य लंबा पत्राचार हुआ था और प्रेमचंद ने अपने पत्रों में अपनी लोकप्रिय कहानियों के शीर्षक एवं स्रोत की स्पष्ट सूचना आनंदराव जोशी को उपलब्ध कराई थी। परिणामस्वरूप आनंदराव जोशी ने प्रेमचंद की 14 कहानियों को मराठी में अनूदित करके जून 1929 में पूना के सुप्रसिद्ध चित्रशाला प्रेस से 'प्रेमचंदाच्या गोष्टी, भाग-1' शीर्षक से प्रकाशित कराया था, जिसमें सम्मिलित कहानियां निम्नांकित हैं:- 1. राजा हरदोल, 2. रानी सारंधा, 3. मंदिर और मस्जिद, 4. एकट्रेस, 5. अग्नि समाधि, 6. विनोद, 7. आत्माराम, 8. सुजान भगत, 9. बूढी काकी, 10. दुर्गा का मंदिर, 11. शतरंज के खिलाड़ी, 12. पंच परमेश्वर, 13. बड़े घर की बेटा और 14. विध्वंस।

‘हंस’ के प्रेमचंद स्मृति अंक में प्रकाशित आनंदराव जोशी के उपर्युक्त संदर्भित लेख में उद्धृत प्रेमचंद के पत्रांशों से सुस्पष्ट है कि ‘प्रेमचंदाच्या गोष्ठी, भाग-1’ के प्रकाशनोपरांत आनंदराव जोशी, इस संकलन के द्वितीय भाग हेतु प्रेमचंद की कतिपय अन्य कहानियों के मराठी अनुवाद करने की दिशा में सक्रिय हो गए थे। इस हेतु कहानियों का चयन करने के लिए प्रेमचंद से उनका पत्राचार होता रहा था। इसी क्रम में आनंदराव जोशी ने अपने 14 मई, 1930 के पत्र में प्रेमचंद को लिखा- ‘I have already translated ‘पश्चाताप’ and ‘पाप का अग्निकुंड’ From ‘नवनिधि’ I also wish to include two stories meant for children ‘रक्षा में हत्या’, and ‘सच्चाई का उपहार’, The first one was already published in ‘आलाप अंक’, but it could not be included in part 1 for want of space.’ (प्रेमचंद का अप्राप्त साहित्य, भाग-2, पृ.141)

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि प्रेमचंद की एक कहानी ‘रक्षा में हत्या’ का मराठी अनुवाद करके आनंदराव जोशी ने ‘प्रेमचंद गोष्ठी, भाग-1’ के प्रकाशन से पूर्व अर्थात् जून 1929 से पूर्व ही ‘आलाप’ अंक में प्रकाशित करा दिया था। इसका सीधा सा अर्थ है कि ‘रक्षा में हत्या’ शीर्षक कहानी जून 1929 से पूर्व ही हिंदी में प्रकाशित हो चुकी थी, परंतु आश्चर्य का विषय है कि आनंदराव जोशी के प्रेमचंद के नाम लिखे उपर्युक्त संदर्भित पत्र को ‘प्रेमचंद का अप्राप्त साहित्य’ में संकलित करते समय डॉ. कमल किशोर गोयनका प्रेमचंद की इस कहानी को खोजने की दिशा में प्रवृत्त होने के स्थान पर कहानी पर मात्र निम्नांकित पद टिप्पणी प्रकाशित कराकर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं- ‘इस नाम की कोई कहानी उपलब्ध नहीं है- डॉ. गोयनका’ (प्रेमचंद का अप्राप्त साहित्य, भाग-2, पृ. 141)

वास्तविकता यह है कि हिंदी पुस्तक भंडार, लहेरियासराय से श्रीरामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी के संपादन में प्रकाशित होने वाले मासिक पत्र ‘बालक के माघ 1983 (जनवरी 1927) के अंक में प्रेमचंद की यह कहानी पृष्ठ संख्या 2 से 8 तक प्रकाशित हुई थी। चिगत 85 वर्षों से ‘बालक’ के पृष्ठों में अचीन्ही पड़ी, यह दुर्लभ एवं असंदर्भित कहानी ‘रक्षा में हत्या’ प्रेमचंद की दुर्लभ रचनाओं की खोज के प्रति विद्वानों एवं प्रेमचंद विशेषज्ञों की घोर अपेक्षा का ज्वलंत प्रमाण है।

कहानी : रक्षा में हत्या

केशव के घर में एक कार्निंस के ऊपर एक पंडुक ने अंडे दिए थे। केशव और उसकी बहन श्यामा दोनों बड़े गौर से पंडुक को वहां आते-जाते देखा करते। प्रातःकाल दोनों आंखें मलते कार्निंस के सामने पहुंच जाते और पंडुक या पंडुकी या दोनों को वहां बैठा पाते। उनको देखने में दोनों बालकों को न जाने क्या मजा मिलता था। दूध और जलेबी की सुध भी न रहती थी। दोनों के मन में भांति-भांति के प्रश्न उठते-अंडे कितने बड़े होंगे, किस रंग के होंगे, कितने होंगे क्या खाते होंगे, उनमें से बच्चे कैसे निकल

आवेंगे, बच्चों के पंख कैसे निकलेंगे, घोंसला कैसा है पर इन प्रश्नों का उत्तर देने वाला कोई न था? अम्मा को घर के काम-धंधों से फुरसत न थी- बाबूजी को पढ़ने-लिखने से। दोनों आपस ही में प्रश्नोत्तर करके अपने मन को संतुष्ट कर लिया करते थे।

श्यामा कहती क्यों भैया, बच्चे निकलकर फुर्र से उड़ जाएंगे? केशव पंडिताई भरे अभिमान से कहता- नहीं री पगली, पहले पंख निकलेंगे। बिना परों के बिचारे कैसे उड़ेंगे। श्यामा-बच्चों को क्या खिलाएगी बिचारी?

केशव इस जटिल प्रश्न का उत्तर कुछ न दे सकता।

इस भांति तीन-चार दिन बीत गए। दोनों बालकों की जिज्ञासा दिन-दिन प्रबल होती जाती थी। अंडों को देखने के लिए वे अधीर हो उठते थे। उन्होंने अनुमान किया, अब अवश्य बच्चे निकल आए होंगे। बच्चों के चारे की समस्या अब उनके सामने आ खड़ी हुई। पंडुकी बिचारी इतना दान कहां पावेगी कि सारे बच्चों का पेट भरे। गरीब बच्चे भूख के मारे चू-चू कर मर जाएंगे।

इस विपत्ति की कल्पना करके दोनों व्याकुल हो गए। दोनों ने निश्चय किया कि कार्निंस पर थोड़ा सा दाना रख दिया जाए। श्यामा प्रसन्न होकर बोली- तब तो चिड़ियों को चारे के लिए कहीं उड़कर न जाना पड़ेगा न?

केशव – नहीं, तब क्यों जाएगी।

श्यामा – क्यों भैया, बच्चों को धूप न लगती होगी?

केशव का ध्यान इस कष्ट की ओर न गया था- अवश्य कष्ट हो रहा होगा। बिचारे प्यास के मारे तड़पते होंगे, ऊपर कोई साया भी तो नहीं।

आखिर यही निश्चय हुआ कि घोंसले के ऊपर कपड़े की छत बना देना चाहिए। पानी की प्याली और थोड़ा सा चावल रख देने का प्रस्ताव भी पास हुआ।

दोनों बालक बड़े उत्साह से काम करने लगे। श्यामा माता की आंख बचाकर मटके से चावल निकाल लाई। केशव ने पत्थर की प्याली का तेल चुपके से जमीन पर गिरा दिया और उसे खूब साफ करके उसमें पानी भरा।

अब चांदनी के लिए कपड़ा कहां से आए? फिर, ऊपर बिना तीलियों के कपड़ा ठहरेगा कैसे और तीलियां खड़ी कैसे होंगी?

केशव बड़ी देर तक इसी उधेड़बुन में रहा। अंत को उसने यह समस्या भी हल कर ली। श्यामा से बोला- जाकर कूड़ा फेंकने वाली टोकरी उठा ला। अम्माजी को मत दिखाना।

श्यामा- वह तो बीच से फटी हुई है, उसमें से धूप न जाएगी?

केशव ने झुंझलाकर कहा – तू टोकरी तो ला, मैं उसका सूराख बंद करने की कोई हिकमत निकालूंगा न।

श्यामा दौड़कर टोकरी उठा लाई। केशव ने उसके सूराख में थोड़ा-सा कागज टूस दिया और तब टोकरी को एक टहनी से टिकाकर बोला- देख, ऐसे ही घोंसले पर इसकी आड़ कर दूंगा। तब कैसे धूप जाएगी? श्यामा ने मन में सोचा- भैया कितने चतुर हैं!

गर्मी के दिन थे। बाबूजी दफ्तर गए हुए थे। माता दोनों बालकों को कमरे में सुलाकर खुद सो गई थी, पर बालकों की आंखों में आज नींद कहां? अम्माजी को बहलाने के लिए दोनों दम साधे, आंखें बंद किए, मौके का इंतजार कर रहे थे। ज्योंही मालूम हुआ कि अम्माजी अच्छी तरह सो गई, दोनों चुपके से उठे और बहुत धीरे से द्वार की सिटकनी खोलकर बाहर निकल आए। अंडों की रक्षा करने की तैयारियां होने लगीं।

केशव कमरे से एक स्टूल उठा लाया, पर जब उससे काम न चला, तो नहाने की चौकी लाकर स्टूल के नीचे रखी और डरते-डरते स्टूल पर चढ़ा। श्यामा दोनों हाथों से स्टूल को पकड़े हुई थी। स्टूल चारों पाए बराबर न होने के कारण, जिस ओर ज्यादा दबाव पाता था, जरा-सा हिल जाता था। उस समय केशव को कितना संयम करना पड़ता था, यह उसी का दिल जानता। दोनों हाथों से कार्निंस पकड़ लेता और श्यामा को दबी आवाज से डांटता अच्छी तरह पकड़, नहीं उतरकर बहुत मारूंगा। मगर बिचारी श्यामा का मन तो ऊपर कार्निंस पर था, बार-बार उसका ध्यान, इधर चला जाता और हाथ ढीले पड़ जाते। केशव ने ज्यों ही कार्निंस पर हाथ रखा, दोनों पंडुक उड़ गए। केशव ने देखा कि कार्निंस पर थोड़े-से तिनके बिछे हुए हैं और उस पर तीन अंडे पड़े हैं। जैसे घोंसले पर देखे थे, ऐसा कोई घोंसला नहीं है।

श्यामा ने नीचे से पूछा- कै बच्चे हैं भैया?

केशव- तीन अंडे हैं। अभी बच्चे नहीं निकले।

श्यामा- जरा हमें दिखा दो भैया, कितने बड़े हैं?

केशव-दिखा दूंगा, पहले जरा-चीथड़े ले आ, नीचे बिछा दूं। बिचारे अंडे तिनकों पर पड़े हुए हैं।

श्यामा दौड़कर अपनी पुरानी धोती फाड़कर एक टुकड़ा लाई और केशव ने झुककर कपड़ा ले लिया। उसके कई तह करके उसने एक गद्दी बनाई और उसे तिनकों पर बिछाकर तीनों अंडे, धीरे से उस पर रख दिए।

श्यामा ने फिर कहा- हमको भी दिखा दो भैया?

केशव-दिखा दूंगा, पहले जरा वह टोकरी तो दे दो, ऊपर साया कर दूं।

श्यामा ने टोकरी नीचे से थमा दी और बोली अब तुम उतर आओ, तो मैं भी देखूं। केशव ने टोकरी को एक टहनी से टिकाकर कहा- जा दाना और पानी की प्याली ले आ। मैं उतर जाऊं, तो तुझे दिखा दूंगा।

श्यामा प्याली और चावल भी लाई। केशव ने टोकरी के नीचे दोनों चीजें रख दीं और धीरे से उतर आया।

श्यामा ने गिड़गिड़ाकर कहा- अब हमको भी चढ़ा दो भैया।

केशव- तू गिर पड़ेगी।

श्यामा- न गिरूंगी भैया, तुम नीचे से पकड़े रहना।

केशव- ना भैया, कहीं तू गिर-गिरा पड़े, तो अम्माजी मेरी चटनी ही बना डालें कि तूने ही चढ़ाया था। क्या करेगी देखकर? अब अंडे बड़े आराम से हैं। जब बच्चे निकलेंगे, तो उनको पालेंगे।

दोनों पक्षी बार-बार कार्निंस पर आते थे और बिना बैठे ही उड़ जाते थे। केशव ने सोचा, हम लोगों के भय से यह नहीं बैठते। स्टूल उठाकर कमरे में रख आया। चौकी जहां-की-तहां रख दी।

श्यामा ने आंखों में आंसू भरकर कहा-तुमने मुझे नहीं दिखाया, मैं अम्माजी से कह दूंगी।

केशव-अम्माजी से कहेगी, तो बहुत मारूंगा, कहे देता हूं। श्यामा- तो तुमने मुझे दिखाया क्यों नहीं?

केशव- और गिर पड़ती तो चार सिर न हो जाते?

श्यामा- हो जाते, हो जाते। देख लेना, मैं कह दूंगी।

इतने में कोठरी का द्वार खुला और माता ने धूप से आंखों को बचाते हुए कहा- तुम दोनों बाहर कब निकल आए? मैंने मना किया था कि दोपहर को न निकलना, किसने किवाड़ खोला?

किवाड़ केशव ने खोला था, पर श्यामा ने माता से यह बात नहीं की। उसे भय हुआ भैया पिट जाएंगे। केशव दिल में कांप रहा था कि कहीं श्यामा कह न दे। अंडे न दिखाए थे, इससे अब इसको श्यामा पर विश्वास न था। श्यामा केवल प्रेमवश चुप थी या इस अपराध में सहयोग के कारण इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। शायद दोनों ही बातें थीं।

माता ने दोनों बालकों को डांट-डपटकर फिर कमरे में बंद कर दिया और आप धीरे-धीरे उन्हें पंखा झलने लगी। अभी केवल दो बजे थे। तेज लू चल रही थी। अबकी दोनों बालकों को नींद आ गई।

चार बजे एकाएक श्यामा की नींद खुली। किवाड़ खुले हुए थे। वह दौड़ी हुई कार्निंस के पास आई और ऊपर की ओर ताकने लगी। पंडुकों का पता न था। सहसा उसकी निगाह नीचे गई और वह उलटे पांव बेतहाशा दौड़ती हुई कमरे में जाकर जोर से बोली-भैया, अंडे तो नीचे पड़े हैं। बच्चे उड़ गए?

केशव घबराकर उठा और दौड़ा हुआ बाहर आया, तो क्या देखता है कि तीनों अंडे नीचे टूटे पड़े हैं और उनमें से कोई चूने की सी चीज बाहर निकल आई है। पानी की प्याली भी एक तरफ टूटी पड़ी है।

उसके चेहरे का रंग उड़ गया। डरे हुए नेत्रों से भूमि की ओर ताकने लगा। श्यामा ने पूछा-बच्चे कहां उड़ गए भैया?

केशव ने रुंधे स्वर में कहा-अंडे तो फूट गए!

श्यामा-और बच्चे कहां गए?

केशव-तेरे सिर में। देखती नहीं है, अंडों में से उजला-उजला पानी निकल आया है! वही तो दो-चार दिन में बच्चे बन जाते।

माता ने सुई हाथ में लिए हुए पूछा-तुम दोनों वहां धूप में क्या कर रहे हो?
श्यामा ने कहा -अम्माजी, चिडिया के अंडे टूटे पड़े हैं।

माता ने आकर टूटे हुए अंडों को देखा और गुस्से से बोली-तुम लोगों ने अंडों को छुआ होगा।

अबकी श्यामा को भैया पर, जरा भी दया न आई- उसी ने शायद अंडों को इस तरह रख दिया कि वे नीचे गिर पड़े, इसका उसे दंड मिलना चाहिए, बोली-इन्हीं ने अंडों को छेड़ा था अम्माजी।

माता ने केशव से पूछा- क्यों रे?

केशव भीगी बिल्ली बना खड़ा रहा।

माता - तो वहां पहुंचा कैसे?

श्यामा- चौकी पर स्टूल रखकर चढ़े थे अम्माजी।

माता- इसीलिए तुम दोनों दोपहर को निकले थे।

श्यामा- यहीं ऊपर चढ़े थे अम्माजी।

केशव- तू स्टूल थामे नहीं खड़ी थी।

श्याम- तुम्हीं ने तो कहा था।

माता- तू इतना बड़ा हुआ, तुझे अभी इतना भी नहीं मालूम कि छूने से चिडियों के अंडे गंदे हो जाते हैं- चिडियां फिर उन्हें नहीं सेती।

श्यामा ने डरते-डरते पूछा- तो क्या इसीलिए चिडियां ने अंडे गिरा दिए हैं अम्माजी?

माता- और क्या करती। केशव के सिर इसका पाप पड़ेगा। हां-हां तीन जानें ले लीं दुष्ट ने!

केशव रुआंसा होकर बोला- मैंने तो केवल अंडों को गद्दी पर रख दिया था अम्माजी!

माता को हंसी आ गई।

मगर केशव को कई दिनों तक अपनी भूल पर पश्चाताप होता रहा। अंडों की रक्षा करने के भ्रम में, उसने उनका सर्वनाश कर डाला था। इसे याद करके वह कभी-कभी रो पड़ता था।

दोनों चिडियां वहां फिर न दिखाई दीं!

बहुरूपिया

से.रा. यात्री

मैं इलाहाबाद हाईकोर्ट के बाहर खड़ा किसी अच्छे वकील से मिलने की फिराक में था। इसी समय एक एंबेसडर कार ठीक, मेरी बगल में आकर ठहर गई। ड्राइवर की सीट छोड़कर जो लंबा-चौड़ा खुश पोश आदमी बाहर निकलकर मेरी ओर लपकता आया, उसे मैं यकायक पहचान नहीं पाया। उसने मुझे आलिंगन में लेते हुए कहा 'नहीं पहचाने? आयम, योर, ओल्ड फ्रेंड भार्गवा।'

मैंने उसकी जकड़बंदी से छूटकर, उसे हैरत से देखा और बोला 'भार्गवा? अरे हां भार्गव! मगर तुम यहां क्या करते हो?'

'अजीब सवाल है। यहां लोग क्या करते हैं- यह भी कोई बतलाने की बात है? क्या किसी चक्कर में फंस गए हो?' इसके बाद, उसने जरा सा मुड़कर गाड़ी में बैठी महिलाओं की ओर संकेत करके कहा 'मीट माई लाइफ-पार्टनर-नलिनी भार्गवा।'

पिछली सीट पर बैठी पैंतीस-छत्तीस वर्ष की एक शालीन महिला ने मेरी ओर हाथ जोड़ दिए, प्रत्युत्तर में मैंने भी अभिवादनस्वरूप हाथ जोड़ दिए। उसके चेहरे पर गुरुर में डूबी, मेहरबानी का भाव उभर उठा। मैंने गौर से देखा- 'वह एक मंहगी सिल्केन साड़ी धारण किए हुए थी। उसकी बगल में जो एक अधेड़ महिला बैठी थी- भार्गव ने उसका कोई परिचय नहीं दिया।

मैं भार्गव को इस ठाठ में देखकर चकित रह गया और सहसा मेरी आंखों में वह रात घूम गई, जब मैं दिल्ली की पहली नुमाइश देखकर लौट रहा था---।

शायद दिसंबर या जनवरी का कोई महीना था। रात के ग्यारह बज चुके थे। मुझे और मेरे मित्र को अलीगढ़ जाने वाली गाड़ी पकड़नी थी। टिकट बाबू अभी खिड़की पर नहीं आया था इसलिए मैं और मेरा मित्र विद्यार्त्न, वहां से हटकर उधर जाकर खड़े हो गए, जहां मुसाफिरखाना में सैकड़ों पैसंजर यहां-वहां पसरे पड़े थे। तृतीय श्रेणी (अब द्वितीय श्रेणी) के डिब्बे के समान ही तीसरे दर्जे का मुसाफिरखाना भी किसी ग्रांड सर्कस से कम नहीं होता। वहीं तो समाजवाद का असली रूप देखने को मिलता है। नींद का मारा बाबू भी किसी देहाती की बाजू में अपना रजाई-गद्दा डाले पड़ा रहता है। कड़ाके की हड़कंप मचाने वाली ठंड, वर्ग-भेद, वर्ण भेद की मोटी मोटी दीवारों को एकबारगी ध्वस्त कर देती है।

तभी सहसा मैंने और विद्यार्त्न ने एक अजीबोगरीब दृश्य देखा। रजाइयों, कंबलों, दूस्तियों और चिथी-फटी कथरियों के बीच कोई चीज सरसरा रही थी। उसकी सरसराहट लहरों की मानिंद दाएं-बाएं, ऊपर-नीचे कहीं भी बढ़ जाती थी। यह हलचल कभी-कभी बीच में क्षण दो क्षण के लिए ठहर भी जाती थी और फिर चालू हो जाती थी। देर तक देखते रहने के बाद भी मेरी और साथ खड़े विद्यार्त्न की कुछ समझ में नहीं आया कि यह गतिशील वस्तु अथवा लहर आखिर है क्या? हम दोनों परम चकित होकर इस वर्तुलाकार तरंग को देखते रहे। संयोग से हम दोनों मित्रों के सिवा वहां कोई और नहीं था, होता तो शायद कुछ हो-हल्ला ही कर बैठता।

कुई मिनट बाद एक कंबल से सिर और किसी दूसरे मुसाफिर की रजाई के सिरे से दो पांव बाहर निकले। कुछ क्षण तो वह विचित्र आकृति फर्श पर ही इधर-उधर करवटें सी बदलती रही। बाद में एक सीक के मानिंद पतला आदमी औचक ढंग से उठकर खड़ा हो गया। उसने दोनों हथेलियों से अपने सिर के उलझे बालों को थपथपाया और अपनी कमीज-पतलून की झाड़-फटकार की।

इतने भयंकर शीत में वह शख्स महज एक सूती शर्ट और पैंट पहने हुए था। बस गनीमत यही थी कि उसके पांवों में 'बाटा' के कपड़े के जूते थे। कहीं चप्पल होती तो उसका परलोक गमन निश्चित ही था।

जब वह आदमी सारी भीड़ को लांघकर मुझे अपनी दिशा में आता दिखाई पड़ा तो मैं उसे देखकर दंग रह गया। वह यूनिवर्सिटी में बी.ए.फाइनल का विद्यार्थी भार्गव था। अभी दो-तीन साल पहले वह कालेज में मेरे साथ था और अब मुझसे एक वर्ष आगे था।

जब मैं दसवीं जमात में पहुंचा तो भार्गव फेल होकर, मेरे साथ ही आ गया था। लेकिन उसकी किस्मत थी कि आजादी की खुशी में अनुत्तीर्ण विद्यार्थी पास किए गए तो वह भी उत्तीर्ण हो गया। वह अलीगढ़ विश्वविद्यालय में दाखिल हो गया और इंटर का विद्यार्थी बन गया। उन दिनों विश्वविद्यालय में इंटर की कक्षाएं भी होती थीं।

हाईस्कूल में बस वह डेढ़-दो महीने ही मेरे साथ रहा लेकिन इसी दौरान उसके जौहर हमारे सामने खुलने लगे थे। वह स्वयं को बड़ा भारी तीसमार खां समझता था और

बाकी सबसे खुद को बहुत अलग करके अफलातून दिखाने को इच्छुक रहता था। पता नहीं कितने ऐसे नाम उसकी जुबान पर रहते थे, जिन्हें हम दसवीं के लड़कों ने तब तक कहीं नहीं सुना भी नहीं था। मार्क्स, एंजिल्स, शॉ, शापेनहावर, रसल, सिजविक, पुश्किन, प्लेटो और अरस्तू के अलावा और भी सैकड़ों चित्र-विचित्र नाम उसके मुंह से बरसात की फुहार की तरह झड़ते चले जाते थे। कामरेड गोपालन, नंबूदरीपाद, पी.सी. जोशी का जिक्र तो वह कमोबेश प्रत्येक वाक्य के साथ ही करता था। हम बेचारों ने, तब तक गांधी, पटेल, नेहरू, सुभाष आदि के नाम ही सुने थे।

भार्गव के सामने कस्बाई और देहाती लड़कों की तो बोलती ही बंद हो जाती थी। उसकी पीठ पीछे, वे जरूर उसका मजाक उड़ाते थे। जब वह मुंह बनाकर फर्माटेदार अंग्रेजी बोलता था तो सारे विद्यार्थी अचंभे से उसका मुंह ताकते रहते थे पर उनका भौंचक्कापन टूटने पर जो अभिव्यक्ति सामने आती थी, उसका रूप यही होता था 'सारो! इंगरेजी को घुसलो!'

चूंकि एक डेढ़ महीने तक, जब तक कि उसे स्वतंत्रता की खुशी में आगे नहीं धकेला गया था वह मेरी सीट से लगकर ही बैठता था- इसलिए मैं ही उसकी लंतरानियां सुनने को विवश रहता था। उसके द्वारा कही गई अधिकांश ऊंची-ऊंची बातें मेरे लिए रामरोला सरीखी ही थी। मैं चुपचाप सुनता रहता था और वह और भी अधिक उत्साहित होकर कुछ भी बोलता चला जाता था।

स्कूल छोड़कर चले जाने के बाद भी भार्गव मुझे भूला नहीं था- मुझसे बराबर मिलता रहता था। वह मेरा समवयस्क ही था इसलिए समय बीतने के साथ उसकी बकबक का रौब मुझ पर बहुत कुछ कम हो चला था। यह मुझे कभी पता नहीं चला कि वह रहता कहां था पर जब भी उसका मन होता, मेरे पास चला आता था। उसके हाथों और बगल में मोटी मोटी पोथियां अवश्य होती थीं। गाहे-बगाहे, वह कोई भी ग्रंथ खोलकर क्लिष्ट उद्धरण मुझे सुनाने लगता था। मेरे साथ, वह अभिभावक के स्तर पर व्यवहार करता था और मुझे अपना योग्य उत्तराधिकारी शिष्य मानने लगा था। मैं मन ही मन उसके इस आचरण पर हंसकर खूब आनंदित होता रहता था। कभी-कभी, जब मैं औचक कोई सवाल उछाल देता था तो वह संदेह में पड़कर मेरा मुंह गौर से देखने लगता था। ऐसे क्षण वह दरअसल यह शिनाख्त करने की कोशिश करता था कि मैंने सहज जिज्ञासावश प्रश्न किया है या मेरा मकसद उसकी परीक्षा लेना है। मेरे चेहरे पर कोई व्यंग्य अथवा कूट भाव न पाकर वह निर्द्वंद्व भाव से फिर प्रवचन देने में जुट जाता था।

कपड़े लत्तों की तो उसके पास हमेशा ही कमी बनी रहती थी। उसका संभवतः कहीं कोई ठोस आर्थिक आधार नहीं था। मैंने उसे अनेक बार अपने से बड़ी आयु के लोगों के साथ देखा था। लगता था वह न केवल उनके ऊपर निर्भर करता था वरन उनके घरों को भी अदलता-बदलता रहता था। जाहिर है वह कपड़े भी उन्हीं के पहनता होगा क्योंकि कभी वह एकदम ढीली-ढाली पतलून और कंधों से लटकती बुशर्ट पहने होता था तो किसी

और दिन सड़क पर झाड़ू लगाने वाले, चौड़े पांयचों का पाजामा धारण किए होता था। बाज मौकों पर वह साहबी लिबास में लकदक भी नजर आता था। उसके होठों में सिगार अथवा चुरूट भी अटका देखा जा सकता था।

संभवतः उसकी घरविहीनता ने ही उसे सार्वजनिक बना डाला था। घर को लेकर वह भावुक और संवेदनशील भी नहीं था। मुझे कभी पता नहीं चल पाया कि वह किस गांव, परगने या नगर का रहने वाला था। उसके माता-पिता तथा अन्य सगे संबंधियों में से कोई जीवित था अथवा सब स्वर्ग सिंधार चुके थे- इसका भी कोई सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता था। दरअसल अपने व्यक्तिगत जीवन के बारे में भार्गव कोई बात करना ही पसंद नहीं करता था। शिष्टता और नफासत उसके सिर पर भूत की तरह सवार थी लेकिन परिस्थितियों का विद्रूप, उसके साथ इतना खुरदरा व्यवहार करता था कि वह अपने नंगेपन को सार्वजनिकता की दुहाई देकर छिपाता था।

उस रात मैंने भार्गव को अपनी और विद्या की ओर आते देखा तो 'टी स्टॉल' की तरफ मुड़ गया और विद्यारत्न से बोला 'विद्या भाई; हड्डियों में ठंड घुसी जा रही है आओ चलो एक-एक प्याला चाय पी लेते हैं। दरअसल मैं विद्यारत्न का ध्यान भार्गव की ओर से हटाना चाहता था पर विद्या तो लगातार भार्गव को ही देखे जा रहा था। उसकी कतई समझ में नहीं आ रहा था कि बाबुओं जैसे लिबास में, वह लड़का सोए पड़े मुसाफिरों के बिस्तरों में घुसकर क्या कर रहा था?

विद्या ने उसे हम लोगों की ओर बढ़ते देखा तो अपनी गंवई बोली में बोला 'भैया जी! जे तो मोय कोई गिरहकट लगे है।' विद्यारत्न को मैं क्या उत्तर देता। स्पष्ट ही था कि भार्गव के पास कोई पैसा-कौड़ी नहीं रही होगी इसीलिए जोखिम उठाकर भी वह मुसाफिरखाने में सोए पड़े लोगों की खीसें टटोल रहा था।

जब मैंने कोई जबाब नहीं दिया तो विद्या भी मेरे साथ चुपचाप 'टी स्टाल' पर आकर खड़ा हो गया।

अभी मैंने दो प्याले चाय का आर्डर दिया ही था कि भार्गव भी उधर ही आ लगा।

मैंने उसे देखा तो वह सकपका गया और धीमे स्वर में फुसफुसाया अरे तुम? कहां से? इतनी रात गए- यहां टी स्टाल पर क्या कर रहे हो?

विद्यारत्न ने उसकी मिमियाहट सुनी और यह देखकर आश्चर्य में पड़ गया कि वह, जो बिस्तरों में घुसकर चोरी-चकारी के धंधे में लगा हुआ था- मेरा जानकार था।

विद्यारत्न को मेरे साथ देखकर उसने विरक्ति से पूछा 'हू इज ही?'

मैंने विद्या के मन में, उसके प्रति घनघोर हिकारत का भाव जानते हुए भी सहजता से कहा 'मेरे दोस्त विद्यारत्न हैं। हम लोग दोपहर की गाड़ी से 'ट्रेड फेयर' देखने आए थे और अब वापस अलीगढ़ लौट रहे हैं।'

भार्गव ने उड़ती सी नजर विद्यारत्न पर डाली और उसकी ओर हाथ बढ़ाकर बोला 'वैरी हैप्पी टू मीट यू' विद्या ने बेमन से अपना हाथ आगे बढ़ा दिया पर वह बोला कुछ नहीं।

भार्गव ने हम दोनों को इस नजर से देखा गोया यह जानने की कोशिश कर रहा हो कि कहीं हमने, उसे लोगों के बिस्तरों से बाहर निकलते तो नहीं देख लिया।

मैंने चाय वाले से एक प्याला चाय और बनाने को कह दिया।

भार्गव ने तभी मेरी बांह पकड़कर, दूसरी तरफ घसीटते हुए कहा 'आई वांट टू आस्क समथिंग वैरी इंपोर्टेंट।'

जब मैं थोड़ा आगे बढ़ गया तो, उसने सरगोशी से पूछा 'क्या तुमने अलीगढ़ का टिकट खरीद लिया?'

'अभी कहाँ ? अभी तो टिकट खिड़की खुली ही नहीं है।' मैंने दीवार घड़ी पर नजर डालते हुए कहा 'गाड़ी जाने में अभी डेढ़क घंटा बाकी है। शायद 'टिकट विंडो' एक घंटा पहले खुलती होगी। फिर एक क्षण ठहरकर, मैंने कहा 'तुम इस वक्त आ कहाँ से आ रहे हो?' मैंने इस रहस्य पर पर्दा पड़े ही रहने दिया कि मैंने उसे मुसाफिरों के बिस्तरों में टटोलबाजी करते देख लिया था।

मेरी बात सुनकर भार्गव परम आश्वस्त होकर अहंकारपूर्ण स्वर में बोला 'तो चलो अब मैं भी तुम्हारे साथ ही चलता हूँ। मेरा भी एक टिकट खरीद लेना।' उसने यह बात कुछ इस भंगिमा से कही, गोया हमसे अपना टिकट खरीदवाकर, वह हम पर बड़ा भारी अहसान कर रहा हो।

इसके बाद उसने वही पुराने ढंग की बेपर की उड़ानी शुरू कर दी। 'मैं आज कामरेड हरींद्रनाथ चट्टोपाध्याय से मिलने आया था। वह आज सुबह की फ्लाइट से हैदराबाद निकल गए। तुम तो उन्हें जानते ही होगे।'

मैं बोला 'हरींद्रनाथ चट्टोपाध्याय को इस देश में कौन नहीं जानता? हाँ यह बात अलग है कि अपने चाहने वालों में से, वह कितनों को जानते-पहचानते होंगे।'

मेरे व्यंग्य को दरगुजर करके, उसने पूछा 'तुम्हारे पास सिगरेट तो नहीं होगी?'

'मुझ पर अभी कॉलेज का वह रंग कहाँ चढ़ा है।' फिर इधर उधर देखकर मैंने कहा 'चलो बाहर देखते हैं। स्टेशन के बाहर शायद कोई पान का खोखा खुला हो।'

मेरे साथ बाहर जाते हुए, उस पर फिर अंग्रेजी का भूत चढ़ बैठा 'यू नो चट्टोपाध्याय इज माई बूजम फिरेन्ड, टुडे ही कोल्ड मी टेलीफोनिकेली-बट आल आफ ए सडन ही हेड टू गो।'

मैंने सहमति से सिर हिला दिया। इतने दिनों में, मैं यह तो बखूबी जान गया था कि भार्गव हमेशा बड़े-बड़े नामों से घिरा रहता था। उसे कम हैसियतवाला तो कोई बुलाने की जुर्रत ही नहीं कर सकता था। मैंने यह बात उससे जानकर भी नहीं पूछी कि क्या

चट्टोपाध्याय महोदय जो स्वयं एक लंबे चौड़े आवास में रहते थे, अपने पीछे उसके ठहरने की व्यवस्था भी नहीं कर गए थे।

उसके झूठ मारने से यह बात तो साफ हो ही चुकी थी कि वह दिल्ली आया था और उसके पास लौटने तथा खाने-पीने के लिए पैसे नहीं थे। कोई भी माकूल व्यवस्था न होने की स्थिति में वह सोए पड़े लोगों की नंगाझोरी लेने को विवश था।

हम अभी दसक कदम गए होंगे कि विद्यारत्न पीछे से चिल्लाकर बोला 'अब कहाँ चल दिए, चाय बन गई है।'

मैंने भार्गव से कहा 'चलो पहले चाय पी लें, बीड़ी-सिगरेट बाद में देखेंगे।'

वह मेरे साथ लौट पड़ा और टी स्टाल पर पहुँचकर, उसने चाय वाले से पूछा 'भाई क्या तुम्हारे पास बंद भी होंगे?'

मैं तुरंत समझ गया कि भार्गव पूरे दिन का भूखा है। मैं हंसकर बोला 'उसे कामरेड कहकर संबोधित करो, शायद कोई 'बंद' मिल ही जाए। नहीं भी होगा तो बिस्कुट, केक, पेस्ट्री कुछ तो मिल ही जाएगी।'

भार्गव बोला 'यह सब चीजें अमीरों की चोंचलेबाजी है। 'प्रोलिटेरियत' के लिए तो 'अलीगढ़ी बंद' ही असली चीज है।'

पर उसका दुर्भाग्य! चाय वाला अलीगढ़ी बंद नहीं रखता था। मैंने कहा 'चलो अब थोड़ा समझौता कर लो- बिस्कुट से ही काम चला लो। फिर प्लेटफार्म पर चलकर पूड़ी-उड़ी खा लेना।'

'चलो फिर वहीं देखेंगे।' सहसा जैसे, उसे कुछ याद आया हो- हां तुम लोगों ने क्या खाया?'

'हमने तो फव्वारे पर ही खा लिया। तुम चाहो तो उधर ही चलकर देख लेते हैं, अभी तो ट्रेन जाने में बहुत देर है।'

भार्गव मेरे प्रस्ताव पर कुछ सोचते हुए शंकित स्वर में बोला 'मगर अब इतनी रात तक तो वहाँ के ढाबे भी बंद हो चुके होंगे।' फिर फैसलाकुन अंदाज में कहने लगा 'चलो छोड़ो इतनी तवालत कौन उठाए। बाहर तो, वैसे भी जबरदस्त कोहरा पड़ रहा है। जाने-आने में ही मुसीबत हो जाएगी। प्लेटफार्म पर ही कुछ देखा जाएगा।'

एकाएक उसने विद्यारत्न से आदेशात्मक लहजे में कहा 'जरा देखो तो सही। शायद टिकट देने वाला बाबू आ गया है।'

विद्यारत्न जो मजे से चाय की चुस्की ले रहा था, उसे भार्गव का यह लहजा सख्त नागवार गुजरा। उसके चेहरे पर तनाव की लकीरें साफ उभर आईं। वह अपने पर जब्त करके कठोरता से बोला 'ले लेंगे टिकट भी। तुम अपना काम देखो।'

विद्यारत्न की विरक्ति से मैं समझ गया कि उसे भार्गव फूटी आंखों भी बरदाश्त नहीं हो पा रहा है। उसकी आंखों में वह एक जलील गिरहकट था, जो निरीह सोए पड़े मुसाफिरों की तलाशी ले रहा था।

मैंने विद्या के कंधे पर हथेली टिकाकर कहा 'तुम आराम से चाय पीते रहो-टिकट की अभी कोई जल्दी नहीं है।'

मैंने चाय खत्म करके खाली प्याली काउंटर पर सरका दी और टिकट विंडो की दिशा में चल पड़ा। भार्गव ने मेरे साथ चलते हुए, मुझे फिर टटोला 'तुम लोग कितनी देर पहले इधर पहुंचे?'

उसकी जिज्ञासा, उसकी अपराध वृत्ति की ही द्योतक थी। वह ठोंक-बजाकर यह जानने को उत्सुक था कि कहीं हम लोगों ने उसे लोगों के बिस्तरों से बाहर निकलते तो नहीं देख लिया था। इस निकृष्ट घटना का साक्षी होना और वह भी अपने दायरे के लोगों का उसके लिए मरण समान था।

उसके संदेह को जड़ से खत्म करने के इरादे से, मैं बोला 'चलो-चलो टिकट देखे।'

टिकट विंडो खुल चुकी थी और बाबू अपने टिकटों की जांच-पड़ताल में लगा था। वहां टिकट लेने वालों की भीड़ तो थी नहीं इसलिए मैं इत्मीनान से खड़ा भार्गव से बातें करता रहा।

चाय खत्म करके विद्यारत्न भी हमारे पास चला आया। टिकट खरीदकर हमने मुसाफिरखाना पार किया और पुल पर होते हुए प्लेटफार्म पर जा पहुंचे।

गाड़ी यों तो प्लेटफार्म पर लग चुकी थी पर उसमें सवारियां गिनी-चुनी ही बैठी थीं। वैसे भी इस कड़ाके की ठंड में, रात के डेढ़ बजे इस गधा पैसेंजर से कौन जाने वाला था?

पूरे प्लेटफार्म पर, उस घड़ी कुल जमा एक ही खोंचे वाला नज़र आया। उसके पास न जाने कितनी देर पहले की तली हुई -ठंड से लकड़ाई हुई चार-छह पूडियां बची पड़ी थीं।

मरता क्या न करता वाली हालत में भार्गव को, वही पूडियां गले के नीचे धकेलनी पड़ीं। यहां चाय की भी कोई सूरत नहीं थी। मैंने दूसरे प्लेटफार्म पर नजर दौड़ाई मगर वहां भी निचाट सन्नाटा फैला पड़ा था।

तभी भार्गव की देह में कंपकंपी की एक लहर सी उठी और वह बोला - 'अब तो गाड़ी में ही चलकर बैठें।'

गाड़ी पर सवार होने से पहले भार्गव को फिर बीड़ी की याद आ गई। उसने खोंचे वाले से चिचोरी सी करते हुए कहा 'साथी! अगर एक-दो बीडियां दे सको तो बड़ी मेहरबानी होगी। अब यहां तो कहीं बीड़ी मिलने से रही।'

वेंडर ने अपनी जेब से बीड़ी का ढीला सा बंडल निकालकर भार्गव की ओर बढ़ा दिया। भार्गव ने बंडल से चार-छह बीडियां खींचकर अपनी जेब में डालीं और लगभग खाली बंडल उसे वापस करते हुए बोला 'साथी! माफ करना- आपको मजबूरी में एक्सप्लायट करना पड़ा।'

भार्गव ने अपनी जेब से माचिस निकाली और एक बीड़ी जला ली। मैंने उसे लकड़क सूट में सिंगार और चुरट पीते तो पहले भी कई बार देखा था- इस बार उसे बीड़ी के लंबे सुट्टे मारते भी देख रहा था।

वह विद्या और मुझसे पहले गाड़ी में चढ़ा और एक कोने में पालथी लगाकर बैठ गया। कहना न होगा कि उसने सारी रात हम लोगों पर बड़े-बड़े सिद्धांतों की वह गोलंदाजी की कि, उसे हम सारी जिंदगी नहीं भूल सकते थे। बाद में विद्यारत्न ने तो, उस रात की बातों को लेकर मुझसे महीनों तक बात ही नहीं की। काफी दिनों बाद बड़ी कठिनाई से मैं उसे मना पाया था और उससे पक्का वायदा कर दिया था कि बाद में मैं उसे कभी भार्गव द्वारा प्रताड़ित नहीं होने दूंगा।

...और बरसों बाद उसी भार्गव को हाईकोर्ट के बाहर देखकर मैं हैरान रह गया। जिस महिला यानी अपनी पत्नी से, उसने मेरा परिचय कराया था, वह मध्य प्रदेश के किसी डिस्ट्रिक जज की बेटी थी।

भार्गव ने मेरी समस्या जानकर मुझे आश्चर्य किया 'दैट शैल वी इन वैरी इजिली फर्स्ट यू कम विथ मी।'

मैं उसकी कार में बैठकर चल पड़ा। शहर से बाहर निकलकर उसने जरा सा मेरी ओर झुककर धीमे स्वर में पूछा 'आर यू एस्टोनिस्ड टू सी मी इन ए वैरी डिफरेंट वे ऑफ लाइफ (क्या तुम मुझे जिंदगी के एक बहुत अलग रूप में देखकर अचंभित हो)।'

मैंने भी लगभग उसी स्वर में कहा 'तुमको किसी भी रूप में देखकर मुझे हैरत नहीं हो सकती।'

'व्हाई सो?'

'विकाज यू आर एन इंपोस्टर।' उसने एक जोरदार ठहाका लगाया और बाएं हाथ से मेरा कंधा दबा दिया। पता नहीं पीछे बैठी महिलाओं ने हम दोनों की बतकही सुनी या नहीं।

IMPOSTURE (इंपोस्टर) : उस व्यक्ति को कहा जाता है जो वह वास्तव में नहीं है- उसका भ्रम पैदा करता है। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है: PERSON WHO PRETENDS TO BE SOMEONE ELSE IN ORDER TO DECEIVE OTHER PEOPLE.

भवानी भाई और विष्णुजी

राजेंद्र उपाध्याय

आजकल जिन लेखकों की जन्म शताब्दी हम मना रहे हैं, उनमें से दो को मैं उनके साहित्य के अलावा व्यक्तिगत रूप से भी जानता था। ये दोनों गांधीवादी साहित्यकार थे। दोनों एकदम संत-प्रकृति के और लगभग अजातशत्रु थे। दोनों ने विपुल साहित्य की रचना की और दोनों साहित्यकार होने के दंभ से कोसों दूर थे। एक ने अपनी कविताओं के माध्यम से हिंदी साहित्य में उजियारा किया तो दूसरे ने अपनी कहानियों और उपन्यासों और एक कालजयी जीवनी के सहारे हिंदी साहित्य में प्रकाश फैलाया।

यह लगभग शोध का विषय है कि उस दौर में जब नई कहानी का आतंक इतना जबर्दस्त था कि अच्छे-अच्छे कवि कथाकार होने लगे थे और वह भी एक दौर था जब नई कविता का आतंक इतना घना था कि अच्छे-अच्छे कथाकार कविया गए थे- उस दौर में भी भवानीभाई गद्य की ओर ज्यादा नहीं मुड़े और विष्णुजी भी कवियाए नहीं। भवानी की लिखी कई डायरियां जरूर मिलती हैं, जिनका प्रकाशन उनके परिवार के दुराग्रह के कारण भवानीप्रसाद मिश्र रचनावली में संपादक विजय बहादुर सिंह नहीं कर पाए हैं। परिचय में ऐसे दुराग्रह नहीं चलते हैं और शोधार्थी संपादक को सब कुछ प्रकाशन की सुविधा दी जाती है, क्योंकि लेखक की डायरी केवल लेखक की निजी संपत्ति नहीं होती, वह एक पूरे समाज का आईना होती है और एक पूरे समाज को आईना दिखाती है। टॉलस्टाय की कई ऐसी डायरियां प्रकाश में आई हैं, जो उनकी संत की छवि को धूमिल

करती हैं, पर उनका प्रकाशन और पठन-पाठन हुआ है। दुर्भाग्य से हिंदी में वे उपलब्ध नहीं हैं।

दोनों लेखक स्वतंत्रता सेनानी भी थे और इन्होंने बनते भारत को देखा था और बनती हिंदी को भी। दोनों ने हिंदी भाषा और साहित्य की जमकर सेवा की और विपुल मात्रा में तात्कालिक लेखन भी किया। भवानी भाई, संपूर्ण गांधी वाङ्मय, में रहते हुए गांधीमय हो गए थे और विष्णुजी ने गांधी टोपी और खादी मरते दम तक नहीं छोड़ी। दोनों की अखिल भारतीय छवि थी और विष्णुजी 'आवारा मसीहा' के कारण न केवल बंगाल में पूजे जाते थे बल्कि केरल के किसी अनाम गांव में रहने वाली एक दुखियारी परित्यक्ता उनके पैर छूकर निवेदन करती थी कि 'मेरी कहानी लिखो।' एक लेखक का समाज के प्रति भी कोई दायित्व होता है, इस बात को विष्णुजी ने अपनी रचनाओं में उन तथाकथित जनवादियों से कहीं अधिक चरितार्थ किया जो दिन-रात 'समाज-समाज' चिल्लाते थकते नहीं हैं। अपने अंतिम दिनों में भी विष्णुजी पोस्टकार्ड लिखते थकते नहीं थे। अपने समाज से उनका ऐसा कुछ लगाव था। विष्णुजी हिंदी समाज में गहरे पैठे रचनाकार थे।

इंडेवालान स्थित अपनी कुटिया में दिन-रात साधना करने के बाद वे कनॉट प्लेस के कॉफी हाऊस में आते थे, जहां उनसे कोई भी मिल सकता था, बतिया सकता था और ठहाके लगा सकता था। उनसे मिलने के बाद हर कोई जान जाता था कि उनमें देवत्व कूट-कूटकर भरा था लेकिन वे देवता नहीं थे। वे कई तरह के मजाक भी कर लेते थे और 'महाराज' कहकर उनका संबोधन अब भी याद आता है। ऐसे ही एक कॉफी हाऊस की बैठक में मैंने उनका रेडियो के लिए इंटरव्यू लिया था। जब उनका 'अर्धनारीश्वर' उपन्यास आया था और, जिसे साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला था जबकि 'आवारा मसीहा' को मिलना था जो उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति है। वे साहित्य अकादेमी में अक्सर मिल जाते थे। वहां एक-दो समारोहों में उनके साथ बैठने का सुयोग हुआ ही, ऐसा एक चित्र मेरे निजी संग्रह में है- यह मेरे लिए गर्व की बात है।

मैं उनके साहित्य से उतना प्रभावित नहीं हुआ, जितना उनके व्यक्तित्व से और कई साहित्यिक विधाओं में किए गए लेखन से। उनकी संस्मरणों, यात्रा वृत्तान्तों की किताबें अद्भुत हैं। 'हिमशिखरों की छाया में' की समीक्षा मैंने 'जनसत्ता' में लिखी थी, जिसमें बताया था कि केदारनाथ, बद्रीनाथ की कितनी दुर्गम यात्राएं उन्होंने, उस पुराने जमाने में की।

रेडियो एकांकी के क्षेत्र में विष्णुजी ने अद्भुत काम किया है। उन्हें इस क्षेत्र में लाने का श्रेय वे मेरे गुरु प्रभाकर माचवे को दिया करते थे। दोनों के ही नाम में 'प्रभाकर' था और अक्सर एक दूसरे के चैंक एक दूसरे के पते पर 'विष्णु प्रभाकर माचवे' के नाम से चले जाते थे। रेडियो के लिए उन्होंने महापुरुषों की जयंतियों पर भी अनेक कालजयी रचनाएं की हैं। हिंदुस्तान भर में फैले उनके पत्रों की संख्या अगर गिनी जाए तो वह

करोड़ों में नहीं तो लाखों में जरूर होगी। अपने हाथ से विष्णुजी ने जितने पत्र लिखे होंगे उतने मेरी जानकारी में हिंदी के किसी दूसरे साहित्यकार ने नहीं लिखे होंगे। ये पत्र उनके विपुल लेखन से अलग हटकर थे। वे हिंदी के आखिरी मसिजीवी साहित्यकार थे।

भवानीभाई से भी मेरा पत्र-व्यवहार था, जब वे सनिधि, राजघाट में रहते थे और मैं कलकत्ते में प्रभाकर माचवे के साथ भारतीय भाषा परिषद में था। उनके प्रेमपूर्ण पत्र एक युवा कवि के लिए 'टॉनिक' का काम करते थे। सीधी-सादी लिखावट के बाद, उनमें एक आध चित्र भी हाशिए पर बना होता था। अंतिम बार उनको नई दिल्ली के त्रिवेणी कला संगम में देखा था। उनको 'पेसमेकर' लगा हुआ था, वह शायद, 84 की बात होगी।

उनकी कविता का जबर्दस्त आकर्षण था- लगभग चुंबकीय और उससे बचना किसी भी युवा कवि के लिए मुश्किल था। उनके जैसी सरल कविता लिखना, उस समय बहुत दुरूह था। बगैर सरलीकरण का शिकार हुए अपनी बात सरल जुबान में कहना कोई उनसे सीखे। उनकी कविता उर्दू के शेर की टक्कर की है। उनमें तुक है पर वे तुक्काड़ नहीं हैं। वे अखबार की भाषा में कालजयी कविता लिखने वालों में हिंदी के पहले और अंतिम कवि हैं।

हमारे यहां मुक्तिबोध और नागार्जुन राजनीतिक चेतना के प्रखर कवि माने जाते हैं- लेकिन धर्मवीर भारती के सारे रोमांस के बावजूद और भवानीभाई में सारी प्रकृति के बावजूद राजनीतिक चेतना कम नहीं है। 'अंधायुग' और 'त्रिकाल संध्या' राजनीतिक चेतना संपन्न कविताएं हैं। 'त्रिकालसंध्या' में आपातकाल का अंधेरा गहन रूप में मौजूद है-

कैसा मजा है,

मुंह खोला भर कि तैयार कोई सजा है

दुःशासन को अनुशासन पर्व कहो तो ठीक

पुलिस और सेना की क्रूरता पर गर्व करो तो ठीक,

और यह भी कहो कि

एक ही व्यक्ति

देश है, एक ही व्यक्ति प्रजा है

ये कैसा मजा है।

और

बहुत नहीं थे सिर्फ चार कौए थे काले

उन्होंने यह तय किया कि सारे उड़ने वाले

उनके ढंग से उड़ें, रुकें, खाएं और गाएं,

वे जिसको त्यौहार कहें, सब उसे मनाएं

इनके नौकर, चील, गरुड़ सब बाज हो गए।

कहने की जरूरत नहीं कि आज भी चील, गरुड़ सब बाज देश को लूट-लूटकर खा रहे हैं।

श्रीकांत वर्मा के 'मगध' से बहुत पहले भवानीभाई ने देख लिया था कि 'मगध' में विचारों की कमी है-

बैठकर खादी की गादी पर ढलती हैं प्यालियां
और जब चढ़ जाता है नशा
भाषण होते हैं अंग्रेजी में गांधी पर
जोर-जोर से बजती हैं तालियां।

आज भी दिल्ली बदली नहीं है। दिल्ली की संवेदनहीनता को भवानी भाई ने श्रीकांत वर्मा से बहुत पहले भांप लिया था। स्वतंत्र भारत के नेताओं की अमानवीयता, चरित्रहीनता, विदेशी भाषा प्रेम और क्रूरता तथा दूसरी ओर निम्न वर्ग की निर्धनता, फटेहाली, बेकारी और भूख को उन्होंने नजदीक से देखा था-

दिल्ली क्या है? मिली-जुली ऐश्वर्य और दारिद्र्य की झांकियों के सिवा।

कवि का काम मुर्दों को जगाना भी है, जब एक पूरा का पूरा देश खोखली धमकी में मर गया हो तो कवि आह्वान करता है-

मैं एक ही जिंदा आदमी
इस ऊंचाई से आवाज लगाऊंगा
लाशों को जगाऊंगा
लाशें जागेंगी
और नया दूसरा जन्म
मनाया जाएगा।

भवानी भाई की कविता सरल थी इसलिए उस पर लंबी चौड़ी आलोचना नहीं लिखी गई। शायद उनकी कविता आलोचना के लिए भी एक चुनौती थी। इस शताब्दी वर्ष में उनकी कविता पर ध्यान केंद्रित करने का अच्छा उपक्रम हुआ है।

भवानी भाई की अधिकांश कविताएं संबोधन की मुद्रा में लिखी गई हैं, चाहे वे स्वयं को संबोधित हों, चाहे समाज को। भई, जी हां, हुजूर, मैं गीत बेचता हूं, जैसे संबोधन इसके प्रमाण हैं। गीतफरोश कविता में उनकी बदली हुई मनःस्थिति, कवि कर्म की नियति और विडंबना और आंतरिक पीड़ा को एक विचित्र नाटकीयता के साथ प्रस्तुत करती है, जिसकी सफलता का बहुत कुछ श्रेय, उनकी सहज भाषा और संबोधनात्मक मुद्रा को है। इतना निःसंदेह कहा जा सकता है कि उन्होंने आधुनिक हिंदी काव्यभाषा को एक नया मुहावरा दिया है। उनकी कविता को सिर्फ पाठ्य न मानकर उसके श्रव्य गुण को रेखांकित करती है। अपने मानवीय गुणों के कारण वह कविता को धर्म, दर्शन और विज्ञान से अधिक प्रभावी मानते हैं।

वे गांधीवादी मूल्यों से पोषित हुए इसलिए उनकी कविता भी खादी की तरह हाथ कते सूत से बुनी हुई लगती है। कवि कर्म की सर्वाधिक प्रतिभा भवानी भाई के साहित्य अकादेमी से पुरस्कृत संग्रह 'बुनी हुई रस्सी' में मिलती है। कवि के प्रायः सभी संग्रह बगैर किसी भूमिका के हैं, क्योंकि कवि अपने और कविता के बीच कोई दीवार खड़ी नहीं करना चाहता, लेकिन बुनी हुई रस्सी की भूमिका में कुछ बातें, सुविचारित और विस्तार से कही गई हैं। कहना न होगा कि उनका यह गद्य भी काव्यमय है। जगदीश गुप्त ने ठीक ही लिखा है कि 'भवानी भाई अपनी नैतिक चेतना, स्वभावगत साधुता, आध्यात्मिक समन्वित वस्तुवादी दृष्टि के साथ-साथ कवि कर्म की सजगता के कारण तुलसी की परंपरा में आते हैं। उन्होंने हमारे बहुत-बहुत बुद्धिमान कवियों की ओर इशारा करके कहा था-

भाई, इन तमाम लोगों के लिए भी लिखो, जो लगभग तुम्हारे लिए मर गए हैं 'लगभग' इसलिए कहता हूँ कि तुम बहुत-बहुत बुद्धिमान हो।

लेखकों से अनुरोध

- वैचारिक, आलोचनात्मक लेख, कहानी, संस्मरण, डायरी, यात्रा वृत्तान्त आदि अधिकतम 3000 शब्दों में ही प्रेषित करें।
- लेख के अंत में अपना नाम, पूरा पता, फोन, ई-मेल आदि का उल्लेख करें।
- भेजी गई सामग्री स्पष्ट एवं पठनीय हो तथा पन्ने के एक तरफ लिखी गई हो। बेहतर होगा कि लेख यूनिकोड / मंगल फॉन्ट में ही टाइप कराकर भेजें।
- चित्र एवं अन्य कॉपीराइट-सुरक्षित सामग्री के संदर्भ में: लेख में उपयोग हेतु आवश्यक अनुमति लेना लेखक का उत्तरदायित्व होगा।
- रचनाओं की स्वीकृति व अस्वीकृति की सूचना एक माह के अंदर दे दी जाएगी। रचनाओं की वापसी के लिए लिफाफा संलग्न करें।
- लेख के साथ भेजे गये पत्र में इस बात का उल्लेख अवश्य हो कि यह लेखक की मौलिक, अप्रकाशित और अप्रसारित रचना है तथा इसको प्रकाशन हेतु अन्यत्र नहीं भेजा गया है।

आप लेख amishrafaiz@gmail.com पर ई-मेल कर सकते हैं अथवा रजिस्ट्रीकृत डाक/स्पीड पोस्ट से निम्न पते पर भेज सकते हैं -

संपादक

बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)

मो. नं. 09422386554

साहित्यिक पत्रकारिता का साधु-संग्राम

शिवनारायण

पूजा की छुट्टियां चल रही थीं। कुछ लिखने के लिए, उस डायरी को तलाश रहा था, जिसमें जब-तब कुछ तथ्यों को दर्ज करता रहता हूं। वह डायरी तो नहीं मिली, लेकिन जो डायरी हाथ लगी, उसके पन्नों को पलटने लगा। कई बार मेरे एकांत में डायरी के पन्ने सहचर बन मन को सहलाने लगते हैं। उनमें अतीत के पृष्ठ खुलते चले जाते हैं, जिनमें मेरे जीवन और चिंतन के अनगिन रंग मेरे वर्तमान को इंद्रधनुषी अहसासों से भर देते हैं। डायरी लिखने की आदत छुटपन से ही रही है। कितनी ही व्यस्तताओं से घिरा रहूं, डायरी के पन्नों का संग साथ नहीं छूटता। महानगर का जीवन परतों में अलंकृत स्नेही चेहरों की जीवनचर्या का होता है, जिसे शिनाख्त करने की क्षमता न हो तो महानगर में रहना ही मुश्किल हो जाए। गांव का सीधा-सादा आदमी महानगरों में टिक नहीं सकता, वहां की आपाधापी में अपनी सहजता बचाए रखना मुश्किल होगा उसके लिए। भीड़ में पहचान पाने की मारामारी में रिश्ते-नाते छीजने लगते हैं। जीवन का यथार्थ बहुत जटिल होता है, उतना ही जटिल होता है डायरी के पन्नों पर अपने को अभिव्यक्त करना, पर करना होता है। अभिव्यक्ति को प्रकाश में लाने का संकट तो और भी जटिल होता है। पर ये सब मैं क्यों लिख रहा हूं? क्या इसलिए कि डायरी के जो पन्ने मेरे सामने अभी फड़फड़ा रहे हैं, उनमें ऐसे तथ्य भी हैं, जिनके प्रकाश में आने पर मित्रों से मेरे रिश्ते प्रभावित होंगे? इन्हें प्रकाश में न लाना ही उचित है। पर उचित-अनुचित का विचार अब क्या करना, जब उन्हें

लिखते समय न किया? मुझे पाठकों या मित्रों के विवेक पर भरोसा करना चाहिए अतएव, डायरी के जो पृष्ठ बाहर आने को फड़फड़ा रहे हैं, उन्हें मैं मुक्त करता हूँ।

दिल्ली, 7 जून 2009

इस बार कवि मित्र राधेश्याम तिवारी के करावल नगर स्थित आवास पर ठहरा। सुबह तैयार ही हुआ था, कि प्रसिद्ध चित्रकार हरिपाल त्यागी मिलने आ गए। कोई घंटे भर तक उनसे भांति-भांति के विषयों पर बातें होती रहीं। मैंने उन्हें स्मरण कराया कि आज बाबा (कवि नागार्जुन) का जन्मदिन है तो आपके सादतपुर (जिसका नाम वहां के रचनाकारों ने नागार्जुन नगर कर रखा है) में आज क्या कुछ खास हो रहा है? त्यागीजी गंभीर हो गए। कहने लगे-आज बाबा का जन्मदिन है पर सादतपुर में इसकी किसी को जानकारी तक नहीं है। सादतपुरवासी साहित्यकार निजी कामों की व्यस्तता और उसकी प्राथमिकता में साहित्य की चिंता को बिसराए बैठे हैं। अब इसकी आवश्यकता भी, यहां के लोग नहीं समझते। मुझे भी कल शाम अकस्मात् इसका ख्याल आया तो मैंने कुछ मित्रों से इसकी चर्चा की लेकिन प्रायः सभी मित्र वीतरागी बने रहे। आप पूछ रहे हैं कि नागार्जुन को लेकर सादतपुर में कोई कार्यक्रम है या नहीं तो भला ऐसे माहौल में क्या कार्यक्रम हो? अगले ही वर्ष उनकी जन्मशती भी पड़ रही है शायद लोग जगें।

त्यागीजी कहते जा रहे थे। पुरानी स्मृतियों के उत्खनन की उनकी अपनी शैली है। जब वे स्मृतियों या घटनाओं को छानते हैं तो लगता है अपनी तूलिका से श्रोता के मानस पटल के कैनवास पर कुछ चित्रित कर रहे हैं। बातचीत के विषय का कोण कवि त्रिलोचन पर आ गया था। त्यागीजी रसमग्न हो बता रहे थे-त्रिलोचनजी से मेरे बड़े अच्छे संबंध थे, कटु संबंध भी थे (हंसते हुए)। वे खैनी मलने-खाने को 'कटु संबंध' कहते थे। कभी मैं खैनी मलकर उन्हें खिलाता तो कभी वे मुझे, उनसे मेरा पारिवारिक संबंध था। वे भाषा के खिलंदड़ (खिलाड़ी) थे। शब्दों से रोचक खेल रचते। एक बार कथाकार बटरोही को लेकर मुझसे कहने लगे-'बटरोही का अर्थ जानते हो?' 'मैंने बताया- 'राह चलनेवाला या बतानेवाला।' उन्होंने कहा- 'अरे नहीं। देखो बट का अर्थ हुआ वटवृक्ष और रोही का अर्थ हुआ वटवृक्ष की लताओं पर चढ़ने वाला। मतलब यह कि जो वटवृक्ष की लताओं पर सहजता से चढ़ जाए अर्थात् वानर।' कहकर वे हँसने लगे। इसी तरह वे तरह-तरह के शब्दों से तरह-तरह के मनोरंजक अर्थ निकालते।

त्यागीजी से स्मृतियों को सुनने का अपना आनंद है, राधेश्याम तिवारी साथ थे। दिल्ली के अनगिन रचनाकारों का आख्यान चलता रहा।

दिल्ली, 8 जून 2009

शाम 5 बजे प्रेस क्लब में हिमांशु जोशी से भेंट हुई। पहले से मिलने का कार्यक्रम तय था। हर बार की तरह आज भी बड़ी जिंदादिली से मिले। मेरी पुस्तक 'संस्कृति का विवेक'

पर बलब लिख लाए थे, जिसके लिए मैंने उनसे अनुरोध किया था। पुस्तक के एक-एक लेख की इतनी प्रशंसा करने लगे कि मुझे अपने लेखन पर संकोच होने लगा। भाषा एवं विषय-प्रतिपादन की खासकर प्रशंसा कर रहे थे। जब-जब भी उनसे मिलता हूँ, वे मेरे शहर के अनगिन लेखकों के नाम-स्मरण इतनी आत्मीयता से करते हैं कि मैं सम्मोहित हो उन्हें सुनता रहता हूँ। इस बार भी पूज्य गंगाशरण सिंह एवं स्मृति शेष शंकरदयाल सिंह की हार्दिकता और उनकी शालीनता की इतनी चर्चा की, कि मैं विमुग्ध हो गया।

लगभग तीन घंटे तक हम साथ रहे। कई-कई बार कॉफी के साथ प्याज पकौड़े का स्वाद लेते रहे। उन्हें पता है कि मुझे मीठा पसंद नहीं। जब कभी बंगाली मार्केट के 'नाथू स्वीट्स' में उनके साथ बैठना हुआ, हमेशा मेरे लिए दही भल्ला ही मंगवाते। वहां अमरनाथ अमर हमेशा हमारे साथ होते। हमारे स्वाद का उन्हें पता होता। साथ वाले की पसंद-नापसंद का इतना ख्याल। उनकी इस सजगता पर मैं मुग्ध हो गया। आज वे तरंग में थे। जैनेंद्र कुमार, राहुल सांकृत्यायन आदि से जुड़े अपने संस्मरण सुनाते हुए कई बार वे भावुकता एवं रोमांच से इतना भर जाते कि मुझे लगता है कि काश, इन संस्मरणों को वे कागज पर उतार पाते तो हिंदी संसार का कितना भला होता। बहुत पहले कहीं उनकी लिखी कुशीनगर स्थित तथागत के अंतिम दिनों के महाप्रयाण की संस्मरणात्मक कथा पढ़ी थी, जो आज भी मुझे कई-कई कारणों से रोमांचित कर जाती है। पिछले साल हिमांशुजी पटना गए थे, तो मैं उन्हें नालंदा, राजगीर एवं पावापुरी घुमाने ले गया था, साथ में डॉ. शिवनारायण प्रसाद तिवारी, डॉ. अमरनाथ अमर आदि भी थे, तब नालंदा का खंडहर दिखाते हुए मैंने उनसे कुशीनगर जैसा ही जीवंत संस्मरण लिखने का अनुरोध किया था। उन्होंने फुसफुसाते हुए कहा था- 'इस बार नालंदा के प्राचीन विश्वविद्यालय के खंडहर देखने आया हूँ कभी फिर इसे जीने आऊंगा तो जरूर वैसा संस्मरण लिखूंगा।' मुझे लगा था कि सृजन की संगति अलग होती है, जो सामान्य परिभ्रमण में मूर्त नहीं हो सकती।

हिमांशुजी अब नार्वे, चीन, जापान आदि मुल्कों के संस्मरण के साथ समाज, राजनीति एवं संस्कृति के किस्से सुना रहे थे। आज वे खिले-खिले से मूड़ में थे। अभी हाल ही में उनके संपादन में 47 प्रवासी लेखकों की कहानियों का एक संग्रह साहित्य अकादेमी से प्रकाशित हुआ है, जिसकी चर्चा करते हुए वे मुग्ध हो जाते। बार-बार कहते, मेरी अब तक की पुस्तकों में यह सर्वोत्तम कृति है। इस संग्रह के लेखकों और उनकी कहानियों से गुजरते हुई, कितनी-कितनी जीवन-संस्कृतियों के जीने का एहसास हुआ है। ये केवल कहानियां नहीं हैं, बल्कि अलग-अलग मुल्कों की संस्कृतियों में जीवन के संघर्षों की एकता के जो रागात्मक तत्व हैं, उन्हें देखने-समझने का साझा दस्तावेज है। इस काम को करने में कई बरस लगे, पर बड़ा आनंद आया इसमें। अलग-अलग मुल्कों को राजनीति की जमीनी सीमाओं में बांटकर भले देखने के अभ्यासी हों हम, पर उन मुल्कों के प्रेम और संघर्षों की कोई सीमा नहीं है। विश्व के लोग एक हैं, यदि प्रेम और संघर्ष के

स्तर पर वे एक-दूसरे को महसूस कर सकें। इस पुस्तक से यही महसूस कराने का काम मैंने किया है। इसी स्तर पर मैं मनुष्य की विश्व नागरिकता की बात करता रहा हूँ। हमारा भारतवर्ष तो शुरू से ही 'वसुधैव कुटुंबकम्' का संदेश दे रहा है। इस दर्शन को धरातल पर उतारा गया तो मुल्कों के बीच के बहुत से झगड़े स्वतः खत्म हो जाएंगे, पर राजनीति का सत्ता-संघर्ष ऐसा होने दे तब न।

दिल्ली, 10 जून 2009

शाम साढ़े सात बजे प्रसिद्ध कवि कुंवरनारायण से मिलने चित्तरंजन पार्क स्थित उनके आवास पर पहुंचा। अमरनाथ अमर मेरे साथ थे। कुंवरजी चिर परिचित मुस्कान के साथ मिले। उन्हें आगामी 5 नवंबर को पटना ले चलने के उद्देश्य से आया था। उनकी सहर्ष स्वीकृति मिल गई। कुंवरजी से लगभग घंटे भर तक उनके जीवन, साहित्य और साहित्यकारों के सरोकारों पर चर्चा होती रही। पटना जाने के नाम पर उत्फुल्ल हो बोले- 'मैं बचपन में एक बार पटना जा चुका हूँ, वहां मेरी मौसी रहती थीं। गंगा किनारे उनका मकान था बस, इतनी ही धुंधली-सी याद है। हां, वहां मेरी मौसी के मकान के आस-पास कहीं जालान संग्रहालय भी था, जहां मैं अक्सर जाया करता था।' मैंने उन्हें बताया कि 'जालान संग्रहालय अब भी वहां पटना सिटी में है। आप पटना आएंगे तो आपको वहां ले चलूंगा। ऐतिहासिक महत्व का संग्रहालय है वह।' इस पर उन्होंने छूटते ही कहा- 'मुझे वहां खुदाबखश लाइब्रेरी भी जरूर दिखाइएगा। बहुत नाम सुना है उसका। कई बार लोगों ने पटना आने को कहा। अरुण कमल ने भी कई बार कहा। अब आपके कार्यक्रम में चलने पर सारी सार्थें पूरी हो जाएंगी। तब तक, उनकी श्रीमतीजी मिठाई की प्लेट लेकर आ गई थीं, उनसे बातचीत होने लगी। बहुत सुलझी हुई व्यग्रहारिक महिला लगीं। उनकी साफगोई ने मुझे प्रभावित किया। उन्होंने जो कुछ खिलाया, उस पर बांग्ला संस्कृति का प्रभाव साफ दिखा। बातचीत के क्रम में उन्होंने जब कहा कि कुंवरजी 'नई धारा' बहुत पसंद करते हैं, तो तत्क्षण ही कुंवरजी ने कहा- 'अभी हाल ही 'नई धारा' का लघुकथा विशेषांक आया था, जो मुझे बहुत अच्छा लगा। इधर मैंने भी कुछ लघुकथाएं लिखी हैं। पहले से आपके इस विशेषांक की जानकारी होती तो, मैं भी अपनी लघुकथाएं आपको देता। लघुकथा थोड़े शब्दों में बड़ी बातें कहती है, इसलिए यह विधा मुझे प्रिय है। यहां शब्दों का अपव्यय नहीं होता। इधर अनेक लोग अच्छी लघुकथाएं लिख रहे हैं।' फिर अपनी कविताओं की चर्चा करने लगे, विशेषकर हाल ही में लिखी कविताओं की। बोले- 'मेरा एक संग्रह, अभी मेधा प्रकाशन से आ रहा है इसी माह। फिर एक मोटा संचयन ज्ञानपीठ वाले मुझे ज्ञानपीठ एवार्ड देते समय निकालेंगे।' समारोह कब होना है, पूछने पर बोले- 'शायद जुलाई के अंत में हो। वे लोग सोनिया गांधी से एवार्ड दिलाना चाहते हैं।' फिर पटना की ओर मुड़े... 'मैंने बिहार पर कई कविताएं लिखी हैं। नालंदा, राजगीर आदि पर। पटना में वही सब कविताएं सुनाऊंगा।' बातचीत में कुंवरजी बड़े सहज दिखते। उनकी सादगी,

सरलता और संस्कृति प्रेम ने मुझे सम्मोहित किया। वे धीरे-धीरे सधे अंदाज में बोलते, जिससे गंभीरता और गरिमा आभासित होती। उनकी बातों से उनका इतिहासबोध छलकता। उनके शांत स्थिर मन से जाने कितनी बातें निकलती रहीं और मुझे उनकी ही एक कविता की पंक्तियां याद आती रहीं- 'इतना कुछ था इस दुनिया में/लड़ने झगड़ने को/मारने मरने को/पर ऐसा मन मिला/कि जरा से प्यार में मन डूबा रहा/और जीवन बोलता रहा।'

भोपाल, 12 जून 2009

सुबह 'बिलासपुर राजधानी' द्वारा दिल्ली से भोपाल पहुंचा। होटल पलाश के कमरा न.-110 में ठहरा। पता चला कि बाएं बाजू के कमरे में डॉ. ब्रजेंद्र त्रिपाठी और दाएं बाजू के कमरे में कथाकार प्रियवंद ठहरे हैं। 'टेसू' में साथ ही सबने जलपान किया। प्रयाग शुक्ल सपत्नीक हमारे टेबल पर मिल गए। प्रयागजी से मिलें और पुरानी स्मृतियों की सुगंधि न मिले, ऐसा हो ही नहीं सकता। उनके साथ सुदूर अतीत की अनगिन गरिमामयी स्मृतियां हैं, जिनके उत्खनन का उनका अपना रोचक अंदाज है। उनकी स्मृतियों के अनगिन पृष्ठों से परिचित हुआ। पता चला कि भोपाल में ही उनका अपना घर भी है। 1973 में पहली बार भोपाल आए थे। यह शहर मन में बस गया तो देर सबेर वे भी इसी शहर में बस गए। घर पर पानी की दिक्कत है, सो वहां कम रहना होता है। 'पलाश' में कई बार रह चुके हैं। भोपाल उनके अपने मन का शहर है। शहर के किस्से सुनाने लगे भूगोल, इतिहास आदि-आदि। हम जलपान कर ही रहे थे कि भाई प्रियवंद और विभूति नारायण रायजी आ गए। उनके साथ कई रचनाकार मित्रों के कई-कई किस्से भी थे। कुछ देर बाद उठकर अपने कमरे में आ गया। पहले सागर के अपने एक गजलगो मित्र को फोन लगाया, फिर अपने पूर्व परिचित अच्युतानंद मिश्र से संपर्क साधा और अपने भोपाल पहुंचने की सूचना दी, तो बड़े तपाक से मिले। वे इन दिनों भोपाल में ही माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता विश्वविद्यालय में कुलपति हैं। उनकी हार्दिकता का मैं पहले से ही कायल रहा हूं। उन्होंने मेरी सुख-सुविधाओं के बारे में पूछा और दोपहर का भोजन साथ करने का आमंत्रण दिया। करीब सवा बारह बजे फिर, उनका फोन आ गया और साढ़े बारह बजे वे होटल पलाश के मेरे कमरे में आ गए। मिश्रजी की विनम्रता, तत्परता और सहजता ने मुझे मुग्ध कर लिया, उनका आतिथ्य निराला है। अपनेपन में सना-पगा, विनम्रता से सरोबार। उनके साथ लगभग एक बजे एम.पी. नगर स्थित मानसरोवर कांप्लेक्स पहुंचा। पांचवें माले के 'पधारो सा' रेस्टोरेंट में प्रवेश करते ही लगा कि मालवा के किसी ठेठ खानपान केंद्र में पहुंच गया हूं। वहां के परिवेश ने मुझे खासा प्रभावित किया। मेज पर पहले से ही अनगिन कटोरे, गिलास, नेपकिन आदि से सजी थाली पड़ी थी, जैसे- कोई सुघड़ मालवा गृहिणी, अभी-अभी सब कुछ रख गई हो। पारंपरिक तरीके से रंगीन पगड़ी बांधे वेटर केसर से बना शर्बत रख गया। मिश्रजी ने कहा- 'मैं आपको

जानबूझकर यहां लाया, ताकि आप मालवा संस्कृति और यहां के शुद्ध खानपान का आनंद ले सकें। मैं अपने विशिष्ट अतिथियों को यहीं लेकर आता हूँ।' फिर वे यहां की संस्कृति की गहन जानकारी देने लगे।

वेटर तब तक अलग-अलग कटोरे में भिन्न-भिन्न प्रकार की सब्जियां, दाल आदि परोसने लगा था। तीन-चार तरह की सब्जियां, दो-तीन तरह से बनी दाल, कढ़ी-सांभर, आम से बनी तीन-चार तरह की चीजें और न जानें क्या-क्या? खाने-पीने के मामले में मैं शुरू से ही अनमनस्क रहा हूँ। भोजनभट्ट में कभी रहा ही नहीं। मुझे भोजन से अधिक भोजन कराने वाले का अपनापन प्रिय रहा है। आज मिश्रजी का यही अपनापन मुझे खींच रहा है। घी में डुबोई लिट्टी की तरह की कोई खास्ता चीज, पूड़ी, रोटी। मिश्रजी ने कहा- 'आपके बिहार में लिट्टी गोड़ठे पर सेंकी जाती है, पर यहां मालवा में इसे सेंकने के बाद पानी में उबाला जाता है और फिर स्वाद के लिए इसमें कई चीजें डाली जाती हैं। जितने व्यंजन यहां परोसे गए हैं, उनमें मध्य प्रदेश, गुजरात और राजस्थान के पारंपरिक खानपान का मेल है।' मैं भी अचरज से एक-एक चीजों को देख रहा था। नमकीन, खीर, मालपुवा, दही- बड़ा, गिलास भर छाछ लस्सी, आमरस से होते हुए अंत में पापड़ तक। मिश्रजी बोले- 'यहां के भोजन में पापड़ अंत में परोसा जाता है।' पापड़ से पहले चावल परोसा गया था। मैंने गौर किया कि यहां खाना खिलाने का अंदाज भी निराला था। ऐसा लगा कि होटल में नहीं बल्कि किसी घर में, कोई सुघड़ मालवा सुकन्या भोजन करा रही है। बेहद लगाव और चाव के साथ आपको...अरे, जरा इसे खा लीजिए...और इसका स्वाद तो जरा चखिए साब।' वे इस तरह कहते, जैसे हम उनके ग्राहक न होकर विशिष्ट अतिथि हों।

रेस्टोरेंट बहुत बड़ा था। ग्राहकों से भरा हुआ, फिर भी वेटर से मालिक तक के खिलाने का अंदाज अपनेपन-से भरा हुआ। भोजन के बाद जब रिसेप्शन पर पहुंचे तो नेपकीन पर सलीके से चिंदी-चिंदी काटा गया मसालेदार पान परोसा गया। मिश्रजी ने मुस्कराते हुए कहा- 'इसे जरूर खाइए, ऐसा पान आपको कहीं नहीं मिलेगा। इसका स्वाद मगही पान और बनारसी पान से बिल्कुल हटकर है। यहां का पान मशहूर है। कहा जाता है कि इस रेस्टोरेंट में पान के ही दाम लगते हैं, जिसके साथ भोजन मुफ्त मिलता है।' मुझे कभी पान खाने की तलब नहीं रही है, पर खा लिया। मगही पान की तरह वह मुंह में डालते ही गल गया, जैसे मैंने सोनपापड़ी खाया हो। वाह, वाकई अद्भुत स्वाद था पान का।

वहां से निकला तो गाड़ी सरपट भागने लगी थी, माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता विश्वविद्यालय की ओर। रास्ते भर मैंने पान का स्वाद लिया। विश्वविद्यालय परिसर में गाड़ी के प्रवेश करते ही पूरा परिसर अपने कुलपति के स्वागत में आतुर हो उठा। छात्र, शिक्षक, कर्मचारी सभी बड़े अदब से झुककर उनका सम्मान करते। कुलपति का ऐसा सम्मान अब प्रायः विश्वविद्यालयों में देखने को नहीं मिलता। थोड़ी देर बाद उनके

कार्यालय में रहने के बाद मुझे मिश्रजी की ही गाड़ी से होटल पलाश में छोड़ दिया गया।

भोपाल के प्रथम दर्शन में जो बातें मुझे विशिष्ट लगी, वह भी स्थानीय संस्कृति के प्रति इस शहर का लगाव। लगा कि मैं मालवा खंड में विचरण कर रहा हूँ, जो अब अन्यत्र सिरे से गायब होती जा रही है। बीते दो-तीन महीने में मैंने कई-कई यात्राएं कीं, शांतिनिकेतन, कोलकाता, दिल्ली, कोच्चि, लखनऊ आदि की। कोच्चि में जाकर लगा ही नहीं कि मैं नारियल के प्रदेश में हूँ। यही आभास अन्यत्र भी हुआ। बड़े शहरों से वहां की स्थानीय संस्कृति गायब होती जा रही है। बाजार ने देश के सभी शहरों को एक जैसा कर दिया है। बोली-बानी, खानपान, वेश-भूषा से लेकर रोजमर्रा की तमाम वस्तुओं तक मैं। भोपाल उनसे अलग अब भी अपनी सुगंधियों को बचाए हुए है। पहाड़ी झीलों के इस खूबसूरत शहर में बाजार की धमक तो है, पर स्थानीयता की चमक अब भी शेष है। शाम 7 बजे 'भारत भवन' में 'लघु पत्रिका आंदोलन एवं साहित्यिक पत्रकारिता' विषयक तीन दिनों तक चलने वाले समारोह का उद्घाटन सत्र आरंभ हुआ। इसी आयोजन में शामिल होने का आमंत्रण मुझे 'भारत भवन' की ओर से मिला था। इस अवसर पर देश की साहित्यिक पत्रिकाओं की प्रदर्शनी लगाई गई। लगभग 40 चर्चित साहित्यिक पत्रिकाओं के संपादकों सहित असंख्य साहित्यप्रेमी उपस्थित थे। यहां भी अच्युतानंदजी सहित अनेक पूर्व परिचित मित्रों से मुलाकात हुई। आयोजन का उद्घाटन प्रदेश के शिक्षा-संस्कृति मंत्री को करना था, जिनकी अनुपस्थिति में शिक्षा सचिव मनोज श्रीवास्तव सहित आलोचक संपादक प्रभाकर श्रोत्रिय, प्रयाग शुक्ल और विभूति नारायण राय ने समवेत रूप से दीप प्रज्ज्वलन द्वारा किया। बीज वक्तव्य देते हुए प्रभाकर श्रोत्रिय ने कहा कि लघु पत्रकारिता कर्म, जो साहित्यिक पत्रकारिता कर्म ही है, एक प्रकार से साधु संग्राम है। विभिन्न वैचारिक पत्रिकाओं के आतंक से दबा पाठक मानसिक स्वाधीनता चाहता है। विभूति नारायण राय ने हिंदी समाज में नए नवजागरण की आवश्यकता पर बल दिया। प्रयाग शुक्ल ने 'कल्पना' से जुड़े अपने संस्मरण सुनाए। इस सत्र में मनोज श्रीवास्तव द्वारा पढ़े गए पर्चे को सबने पसंद किया। वक्ताओं ने प्रकारांतर से इस दर्द का इजहार किया कि बांग्ला समाज की तरह हिंदी समाज में साहित्य के पठन की संस्कृति नहीं है।

भोपाल, 13 जून 2009

सुबह 8 बजे भाई ब्रजेंद्र त्रिपाठी के साथ 'ट्रेसू' में नाश्ता करने पहुंचा। प्लेट में दो इडली-सांभर के साथ कुछ पपीते लेकर जैसे ही आगे बढ़ा, किशन कालजयी ने मुझे लपक लिया। उनके टेबुल पर पहले से ही कथाकार प्रियवंद, हेतु भारद्वाज, हरिनारायण, अजित राय आदि बैठे थे। भाई प्रियवंद और अजित के बीच बहस चल रही थी, जिसका विषय रोचक था- 'राजेंद्र यादव की फिजूल जिद, जतन और जद्दोजहद।' राजेंद्र यादव ने मध्य प्रदेश सरकार का स्त्री विरोधी कोई विज्ञापन 'हंस' में छापा था, जिस पर प्रियवंद को घोर आपत्ति थी और अजित राय राजेंद्र यादव के पक्ष के सफाई पर सफाई दे रहे थे। हालांकि

वे प्रियवंद के तर्कों से पूरी तरह सहमत थे और अंत में कहा भी- 'राजेंद्रजी की जिद फिजूल है। सभी जानते हैं कि दलित, धर्मनिरपेक्षता आदि सारे मुद्दे उनके लिए बकवास हैं। इन सबकी अपेक्षा उनके लिए स्त्री विमर्श ही सर्वाधिक प्रासंगिक है। अजित ने बताया 'अभी पिछले दिनों राजेंद्रजी ने हंस और अक्षर प्रकाशन को मिलाकर हंसाक्षर ट्रस्ट बना लिया है, जिसके नाम पर लाखों रुपए उगाह रहे हैं, जबकि साल में एक जलसे के अलावा करते कुछ हैं नहीं।'

मुद्दा बदलता रहा, बेलौस बातें होती रहीं, तभी वहां शैलेंद्र सागर और सत्यकेतु आ गए। परस्पर परिचय होने तक बातचीत की धारा थोड़ी मंद हुई, लेकिन जल्दी ही उसमें गति आ गई। अजित कह रहे थे- 'सुना है कि कमला प्रसाद, राजेश जोशी आदि प्रगतिशील रचनाकारों के संगठन ने भारत भवन के इस आयोजन का बहिष्कार कर रखा है।' हेतु भारद्वाज ने तत्क्षण कहा- 'नहीं, ये मामला नहीं है। कमला प्रसाद से मेरी बातचीत हुई है। उनकी स्पाइनल कोड में दर्द है, इसलिए नहीं आ सके।' प्रियवंद ने हस्तक्षेप किया- 'अजित पूरी तरह गलत नहीं बोल रहे हैं। कमलाजी इसे भाजपाई सरकार का आयोजन मानकर नहीं आए।' अजित ने जोड़ा- 'इनके समीकरणों को समझना कठिन है। अभी पिछले दिनों यहां माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता विश्वविद्यालय का आयोजन था। वामपंथियों का मानना है कि विश्वविद्यालय अपने आयोजनों द्वारा भाजपाई कैडर तैयार करते हैं, इसलिए उस आयोजन का प्रलेस के कमला प्रसाद, राजेश जोशी आदि लेखकों ने बहिष्कार कर दिया। इसके बावजूद प्रलेस के राष्ट्रीय अध्यक्ष नामवर सिंह, उप राष्ट्रपति भैरो सिंह शेखावत के साथ उस आयोजन में पहुंच गए, तो यहां के प्रगतिशील लेखकों का विरोध टांय-टांय फिस्स होकर रह गया। ये लोग ऐसे ही नाटक करते रहते हैं।' प्रियवंद ने उनका पुरजोर समर्थन किया, लेकिन हेतु भारद्वाज ने कहा- 'इनका मामला दूसरा था। नामवरजी भाजपाई नेता शेखावत के साथ नहीं बल्कि देश के उप-राष्ट्रपति शेखावत के साथ आए थे।' किशन कालजयी ने कहा- 'ये वामपंथी ऐसे ही अनर्गल तर्क देते रहते हैं, पर मामला कहीं दूसरा होता है।' हेतु भारद्वाज उठकर चले गए। बातचीत का कोण भी बदल गया। अजित ने एक रचनाकार का नाम लेते हुए कहा- 'अभी उन्हें एक लाख रुपए के सम्मान देने की घोषणा की गई है। अशोक वाजपेयी ने सैयद हैदर रजा के नाम पर यह पुरस्कार शुरू किया है। मालूम है, पूरा मामला क्या है?' सभी ने अनभिज्ञता प्रकट की तो उसने बताया कि- 'रजा ने अशोक वाजपेयी को सात करोड़ रुपए दिए हैं, तो अशोकजी ने उन्हीं रुपयों से, यह पुरस्कार शुरू कर दिया है। हैदर रजा भी खुश और अशोक वाजपेयी की भी जय-जय। अब भला रजा को रुपयों की क्या कमी? उनकी एक-एक पेंटिंग लाखों रुपयों में बिकती है।' बातों का सिलसिला चल ही रहा था कि शैलेंद्र सागर उठ खड़े हुए। कुछ और रचनाकार भी उठने को हुए। बैठकी उजड़ गई। 'भारत भवन' के आयोजन के पूर्वाह्न सत्र से लौटकर अपने कमरे की ओर जा ही रहा था कि भाई प्रियवंद का कमरा खुला देख उनसे मिलने कमरे में दाखिल हो गया, वहां हरिनारायण

पहले से मौजूद थे। थोड़ी देर बाद गोविंद मिश्र भी पहुंच गए। नौकरी से अवकाश प्राप्ति के इतने वर्षों बाद भी लेखक कम, अफसर ज्यादा लगे। आयकर विभाग में चीफ कमिश्नर के पद से रिटायर हुए हैं। वे अपनी ईमानदारी का किस्सा सुनाने लगे। बकौल मिश्रजी यदि वे चाहते तो सेवाकाल में करोड़ों रुपए कमा सकते थे, परंतु कभी हाथ गंदा न किया और अब प्रतिमाह 43 हजार रुपये की पेंशन से ही काम चला रहे हैं। इसी तरह की इधर-उधर की बातें होती रहीं, तभी झमाझम बारिश शुरू हो गई। प्रियवंद ने उठकर बालकनी का दरवाजा खोल पर्दा हटा दिया, ताजा हवा के मादक झोंकों ने सबको सराबोर कर दिया। यह मानसून के पहले दिन की जोरदार बारिश थी। मैं तो वर्षा के नाम मात्र से ही खिल उठा था। कहते हैं कि इधर के तीन वर्षों में अधिक वर्षा न होने के कारण भोपाल की झीलें सूखती चली गईं। पानी के लिए त्राहि-त्राहि मचने लगी। वर्षा, झील, भोपाल आदि से बातचीत खिसकती हुई संध्यावंदन पर आकर ठहर गई। हरिनारायणजी ने बताया कि बीती शाम वे प्रियवंद के साथ 'पलाश' के ही बॉर में बैठे थे, जहां उनके सात सौ रुपए खर्च हो गए। गोविंद मिश्र ने प्रियवंद को उलाहना देते हुए कहा- 'भाई, तुम तो पीते ही हो चुल्लू भर।' फिर कौन कितना पीता है, इस पर चर्चा होने लगी। वास्तव में गोविंदजी आए ही थे दोनों संपादकों को पिलाने के चक्कर में। तय हुआ कि 'भारत भवन' के सांध्य सत्र में प्रियवंद के पर्चे के बाद वे लोग किसी क्लब में जाकर शानदार संध्यावंदन करेंगे और फिर लौटकर 'पलाश' में ही भोजन करेंगे। वहां से निकला तो कदम कमरा नं. 105 की ओर बढ़ गया, जहां मेरे गुरुदेव डॉ. गोपाल राय लैपटाप पर अपना काम करते मिल गए। देर तक उनसे बातचीत होती रही।

'भारत भवन' के शाम के सत्र के बाद 'पलाश' में भोजन था, वहीं किशन कालजयी ने कथा लेखिका उर्मिला शिरीष से मिलवाया। उनसे फोन पर कई बार बातें हुई थीं, पर आमने-सामने का पहला मौका था। उनके पति डॉ. शर्मा बड़े जिंदादिल इंसान लगे। गीतकार शैलेंद्र के घोर प्रशंसक। प्रभाकर श्रोत्रिय से लंबी बातचीत के बाद डॉ. शर्मा से ही बातें होती रहीं। भोजन के बाद आइसक्रीम एवं लौकी का जायकेदार हलुवा ले ही रहा था कि कवि राजेश जोशी आ गए। वे प्रियवंद, हरिनारायण वगैरह से मिलने आए थे। प्रियवंद संध्यावंदन कर लौट चुके थे और एक कोने में शैलेंद्र सागर के साथ भोजन में मस्त थे।

डॉ. शर्मा ने राजेश जोशी से लौकी का हलुवा लेने को कहा, पर वे नकार गए। वे 'भारत भवन' के आयोजन से असहमत अलग-अलग थे। उनकी मायूसी, चेहरे से झलक रही थी। राजेश जोशी मेरे प्रिय कवि रहे हैं। कभी जलेस के राष्ट्रीय अधिवेशन में, उनसे पटना में मुलाकात हुई थी, तब उनका व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक लगा था। एक्टिविस्ट कवि के रूप में उनके पहनावे से मोहित हुआ था लेकिन आज वे जाने क्यों लचर-पचर जैसे कांतिहीन लग रहे थे और किसी कस्बाई कवि की तरह बेचारा से बने डोल रहे थे। डॉ. शर्मा ने उनसे पूछा- 'भाई, आप साहित्य सम्मेलन में हबीब तनवीर के श्रद्धांजलि कार्यक्रम

में नहीं दिखे?' जोशीजी ने अन्यमनस्क-सा जवाब दिया- 'कहां इतना समय मिल पाता है कि अब हर ऐसे आयोजन में जाऊं ही।' डॉ. शर्मा ने कहा- 'वह आयोजन लगभग चार घंटे तक चलता रहा। हबीब साहब पर एक डाक्यूमेंटरी फिल्म भी दिखाई गई, इसलिए भी उबाऊ किस्म के विलंब से सब बोर होने लगे थे।' जवाब में फिर जोशी ने कहा- 'हां, ऐसा ही होता है।' 'भारत भवन' के आयोजन में दिखे नहीं, डॉ. शर्मा के पूछने पर राजेश जोशी बोले- 'अब कितने आयोजनों में जाऊं? आप किसी अखबार में काम करें, तब पता चलेगा कि भोपाल में ऐसे कितने ही आयोजन होते रहते हैं और सब में जाना कहां संभव हो पाता है?' एक प्रकार से 'भारत भवन' के आयोजन के प्रति तिरस्कार का भाव उनमें था, जबकि उनसे विमुख हरिनारायण से 'नमस्तेजी' कहते हुए सोत्साह मिले। जाने क्यों मुझे लगा कि राजेश जोशी जैसे बड़े कवि को स्थानीय कवियों जैसी दयनीय एवं खिसियानी बिल्ली खंभा नोचने वाली प्रतिक्रिया से बचते हुए अपने बड़प्पन का परिचय देना चाहिए और उदारता के साथ ऐसे आयोजनों का स्वागत करना चाहिए था। आखिर, जिन लघु पत्रिकाओं ने उन्हें कवि की पहचान देते हुए राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित होने में सहयोग किया, उन्हीं पत्रिकाओं के संघर्ष पर विमर्श के लिए 'भारत भवन' का यह आयोजन था। प्रभाकर श्रोत्रिय जैसे वरिष्ठ संपादक जिस लघु पत्रिका या साहित्यिक पत्रकारिता के आंदोलन का साधु संग्राम कहते हैं, उसकी चिंता राजेश जोशी को नहीं है, चिंता है कि, उसका आयोजन कर कौन रहा है? वे साहित्यिक पत्रकारिता के संघर्ष पर हो रहे विमर्श से तो दूर हैं, लेकिन संपादकों से नजदीकियां बढ़ाने के अवसर तलाशने आ जाते हैं। हरिनारायणजी से हो रही उनकी बातचीत में उनका तरंग साफ दिख रहा है। मुझसे भी, देर तक उनकी बातें होती रहीं। राजेश जोशी के कवि व्यक्तित्व की, जो पूर्व धारणा मेरे मानस में थी, जाने क्यों न चाहते हुए भी, आज वह खंड-खंड हो बिखरती चली गई। क्या कवि का व्यक्तित्व या उनकी निजता कविता में व्यक्त उनके चैतन्य से पृथक होना चाहिए। बार-बार मेरे मन में भाव उमड़ता रहा कि मैं, उनसे अपने प्रिय कवि मुक्तिबोध के शब्दों में पूछूं- 'कामरेड, तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है।'

गांधी के रास्ते पर लौटना होगा : सच्चिदानंद सिन्हा

वरिष्ठ समाजवादी चिंतक सच्चिदानंद सिन्हा (सच्चिदा बाबू) सितंबर-2012 में 84 साल के हो गए। बातचीत के दौरान वह, जिस तरह की ऊर्जा से भरपूर दिखते हैं, उनके चेहरे पर जो ताजगी दिखती है, उसे देखकर कोई जवान भी झोंप सकता है। गंवई परिवेश में तीन दशक से ज्यादा समय से रह रहे सच्चिदा बाबू के आवास में कोई भी सुविधा (टीवी, फ्रिज, बिजली, पंखा, मोटर-गाड़ी, मोबाइल आदि) नहीं है, जिसे आज के समय में जरूरी माना जाता है। सच्चिदा बाबू की जैसी सोच है उन्होंने वैसा ही रहन-सहन रखा है। बिल्कुल सादा और सरल। पहुंचने पर खुद ही पानी दिया और नींबू की चाय बनाई। मुजफ्फरपुर के मुशहरी प्रखंड के मनिका गांव में सच्चिदा बाबू रहते हैं। आवास का नाम चमेली कुटीर। इसके आसपास प्राकृतिक माहौल है। पेड़-पौधे, फूल-पतियां सभी। यह सच्चिदा बाबू के नानाजी का घर है। वह बताते हैं- 1956 में पहली बार मैं यहां आया था, उस समय मैनकाइंड (लोहियाजी की पत्रिका) के संपादक मंडल में था। प्रस्तुत है सच्चिदा बाबू से प्रभात खबर मुजफ्फरपुर के स्थानीय संपादक **शैलेंद्र कुमार सिंह** द्वारा अर्थव्यवस्था, कृषि, ऊर्जा को लेकर की गई बातचीत के प्रमुख अंश:

अन्ना हजारे के आंदोलन को लेकर क्या सोचते हैं?

हमारा मानना है, अन्ना हजारे के आंदोलन का तरीका सही नहीं है। अन्ना का उद्देश्य सही हो सकता है, इसके लिए उन्हें जन लोकपाल बिल को लेकर जनता के बीच जाना चाहिए। जनता का मन बदलना होगा। जब लोग इससे सहमत होंगे, तो आंदोलन अपने आप शुरू हो जाएगा। लोगों के आंदोलन को कोई रोक नहीं सकता। महात्मा गांधी ने देश

को आजाद कराने के लिए कभी भी भूख हड़ताल नहीं की बल्कि सत्याग्रह किया। सत्य व अहिंसा को सबसे ऊपर माना, पदयात्राएं कीं। लोगों के बीच जाकर उनका मन बदला। सब लोग देश के लिए एकजुट हुए। इसके बाद महात्मा गांधी ने देश के लिए लंबी लड़ाई लड़ी। महात्मा गांधी के कदम से कदम मिलाकर चलने वाले बहुत से लोग थे। अन्ना व अन्य एक दो लोगों के अनशन से संसद का फैसला बदल जाए, यह संभव नहीं लगता है। इसके लिए पहले लोगों में उत्साह भरना होगा, उन्हें बताना होगा, देश कहां जा रहा है।

महात्मा गांधी गांव की स्वायत्तता की बात करते थे ?

हां, महात्मा गांधी ग्राम गणराज्य की बात करते थे। अगर गांव स्वायत्त होगा, तो वहां के लोग अपने स्तर की व्यवस्था बनाएंगे, इसमें हवाई जहाज व अन्य आधुनिक सुविधाएं संभव नहीं है। गांव के लोग अपने हिसाब से व्यवस्था बनाएंगे, जिसमें खेती शामिल होगी, इससे गांवों का विकास होगा। महात्मा गांधी ने प्राथमिक शिक्षा की वकालत की थी। कई स्थानों पर स्कूल भी खोले थे। इसमें पढ़ाई के साथ छात्रों को काम की ट्रेनिंग की भी व्यवस्था थी। कहने का मतलब यह, एक तरह से नीचे के स्तर से ढांचा तैयार हो। हमारे विचार से ग्राम गणराज्य आज के समय में प्रासंगिक हो सकता है। यह नहीं हो सकता है, आप कोई बड़ा ढांचा तैयार करें। उसके भीतर गांव के लोगों की स्वायत्त व्यवस्था हो। गांधीजी ओसनेक सर्किल की बात करते थे। इसे आप इस तरह समझ सकते हैं, जब आप समुद्र में कंकड़ डालते हैं, तो हलचल पैदा होती है। उसका एक केंद्र बनता है। इसी तरह जब कई कंकड़ समुद्र में डाले जाएंगे, तो कई केंद्र बनेंगे, जो आपस में जुड़ेंगे भी। इसी तरह की व्यवस्था पंचायतों की होनी चाहिए।

अगर हम भारत की बात करें, तो हमारे यहां कभी पश्चिमी देशों जैसा राष्ट्र नहीं था। पहले बड़े-बड़े साम्राज्य थे, जिनमें स्थानीय इकाइयां सक्रिय थीं। हमारे राष्ट्र की जो परिकल्पना है, वह बिल्कुल अलग है। कुछ बाहरी चीजों को स्वीकार करने की कोशिश हो रही है, लेकिन इसकी गुंजाइश ही नहीं है। राज्य स्तर पर ही लें, तो बिहार व केरल की सोच में फर्क है। तमिलनाडु के लोगों की सोच अलग है। हम लोगों को राष्ट्र के बारे में भी सोचना होगा। इसके बारे में मैंने एक किताब लिखी थी, 'मानव सभ्यता और राष्ट्रवाद।'

अभी जो पर्यावरण व अन्य समस्याएं हो रही हैं वह बता रही हैं, आप फिर लौटकर स्थानीय संसाधनों पर आश्रित नहीं होंगे, तो आगे बढ़ नहीं सकते। ग्लोबल वार्मिंग जैसी समस्याओं पर तमाम रिसर्च हो रहे हैं। इनमें भी यही नतीजे आ रहे हैं, जब तक जीवन जीने के तरीके को बदला नहीं जाएगा, तब तक यह संभव नहीं है।

पेट्रोल के दाम लगातार बढ़-घट रहे हैं ?

पेट्रोल को तो महंगा होना ही है। यह केंद्र सरकार या किसी सरकार के बस में नहीं है। 1960 के आसपास अंतरराष्ट्रीय बाजार में एक डॉलर प्रति बैरल कच्चे तेल की कीमत थी।

अब प्रति बैरल कच्चे तेल की कीमत एक सौ डॉलर से ज्यादा है। जैसे-जैसे आसानी से उपलब्ध माइंस का तेल खत्म हो रहा है, वैसे-वैसे उन माइंस से तेल निकाला जा रहा है, जो कठिन हैं, ऐसे में तेल निकालने में लागत ज्यादा आती है। यह तो स्वतंत्र प्रक्रिया है। पेट्रोल का दाम तो बढ़ते ही जाना है। एक और बात यह स्टैगफ्लेशन का समय है यानी मंदी और महंगाई साथ-साथ। इसे कुछ इस तरह से समझा जा सकता है। आर्थिक मंदी के समय में चीजों की कीमतें गिरती हैं, क्योंकि बेरोजगारी से लोगों की खरीदने की क्षमता कम हो जाती है, लेकिन स्टैगफ्लेशन में मंदी के साथ-साथ महंगाई भी बढ़ती जाती है।

स्टैगफ्लेशन की स्थिति क्यों बनी?

यह लगातार गहराते ऊर्जा संकट का संकेत है। लोगों की खरीदने की क्षमता चाहे जितना कम हो, अगर चीजों के उत्पादन में लगने वाली ऊर्जा की कीमत लगातार बढ़ेगी, तो इससे चीजों के दाम कुछ न कुछ तो बढ़ते ही रहेंगे। इस समय खेती तेल से चलने वाले यंत्रों जैसे- ट्रैक्टर, मोटर पंप आदि पर आधारित है इसलिए जैसे-जैसे पेट्रोल-डीजल के दाम बढ़ेंगे वैसे-वैसे खेती से संबंधित सामान महंगे होते जाएंगे।

ऊर्जा क्षेत्र में संकट के पीछे आप क्या मानते हैं?

विकास के जिस मॉडल पर हम लोग आगे बढ़ रहे हैं, वह सारा सिस्टम आने वाले कुछ दशकों में बिखर जाएगा, क्योंकि पहले कोयला पर निर्भरता थी फिर नेचुरल गैस और पेट्रोलियम पर बढ़ी। पहले पेट्रोलियम पदार्थ सस्ते थे, तो लोगों ने बैल हटाकर ट्रैक्टर से खेती शुरू की, लेकिन अब ट्रैक्टर की खेती इतनी महंगी हो रही है कि फिर से बैल की खेती सस्ती लग रही है।

दरअसल, प्राथमिक चीजों की अनदेखी करके हम आगे नहीं बढ़ सकते हैं। देश के जितने भी बड़े थर्मल पावर स्टेशन हैं उनको कोयले की कमी हो रही है और वह बाहर से कोयला मंगवा रहे हैं। कोयला के लिए मंगोलिया से बात हो रही है, वहां कोयले का बड़ा भंडार है, लेकिन लगातार दोहन से उसमें भी कमी आ रही है। चीन की ऊर्जा का स्रोत मंगोलिया ही रहा है। वहां भी बड़े पैमाने पर कोयले की खुदाई का काम चल रहा है। हम इसके आधार पर आगे बढ़ने की बात कर रहे हैं, तो यह अपने आप में बेमानी है।

अभी डॉलर के मुकाबले रुपये की स्थिति ठीक नहीं ?

कुछ साल पहले तक एक डॉलर की कीमत चवालीस रुपये के आसपास थी, लेकिन अब यह पचपन-छप्पन रुपये तक पहुंच चुकी है। अगर आप डॉलर में तेल खरीदेंगे, तो वह तो महंगा होगा ही। इसमें प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह क्या कर सकते हैं। कोई भी सरकार केंद्र में रहे। यह उसके बस की बात नहीं है। अभी जो हालात हैं, उसमें बजट घाटा दिनोंदिन

बढ़ता जा रहा है। देश पर कर्ज का भार लगातार बढ़ रहा है, क्योंकि आयात के बदले निर्यात तो ज्यादा है नहीं। अभी जो राजनीतिक लड़ाई हो रही है वह अंधकार में डंडा चलाने जैसी है। मूल समस्या की ओर कोई जाने की कोशिश नहीं कर रहा है। पूरी अर्थव्यवस्था को ऐसे आधार पर चलाया जा रहा है, जिसमें रुपये की साख गिर रही है। जब ऐसा होता है, तो हाहाकार मचता है। आपको, याद होगा कि कुछ साल पहले देश को सोना गिरवी रखना पड़ा था। आगे फिर वही हालात बन सकते हैं।

विकास दर की बात हो रही है ?

जो पूरा विकास हो रहा है। वह विश्व के संसाधनों की लूट पर आधारित है। जितना तेजी से विकास होगा संसाधनों की उतनी ज्यादा लूट होगी। जिन देशों के पास संसाधन हैं, वह उनका शोषण कर रहे हैं, लेकिन जिनके पास संसाधन नहीं हैं, उनकी नजर दूसरे देशों से संसाधनों पर है। अभी पेट्रोलियम व प्राकृतिक गैस पश्चिम एशिया के देशों में है, तो विश्व के बड़े देशों की निगाह पश्चिम एशिया के देशों पर जम गई है। भारत ईरान से गैस की पाइप लाइन लाना चाहता है। गैस व पेट्रोलियम सीमित मात्रा में है। इसकी सीमा भी अब सामने दिखाई पड़ रही है। यही वैश्विक मंदी व महंगाई का कारण है। यह ऐसी प्रक्रिया है, जिसे पलटा नहीं जा सकता है, क्योंकि पेट्रोलियम जैसे संसाधन हैं। यह तो जमीन के नीचे गड़े खजाने की तरह हैं, जिन्हें बढ़ाया नहीं जा सकता है।

चीन में जिस तेजी से विकास हो रहा है। उसमें आंतरिक संसाधनों का जमकर दोहन हो रहा है। वहां 12 प्रतिशत विकास दर की बात हो रही है। भारत में सात से आठ प्रतिशत के विकास दर की बात सरकार कर रही है। अभी हम लोग काफी पीछे हैं, लेकिन अमेरिका की बात करें, तो वहां की स्थिति बिल्कुल अलग है। अमेरिका में एक प्रतिशत के आसपास विकास की दर रहती है। अमेरिका में नौ फीसदी बेरोजगारी है।

तो क्या कर सकते हैं ?

अगर दुनिया का विकास करना है, तो ऐसी चीजों पर आधारित होना होगा, जो बार-बार काम आ सकें इसमें सौर ऊर्जा सबसे प्रमुख है। सूरज तो अभी करोड़ों वर्षों तक चमकता रहेगा, उससे हमें ऊर्जा मिलती रहेगी, लेकिन इसका इस्तेमाल आप किस रूप में करते हैं। यह भी देखना होगा। अभी बहुत चर्चा सोलर एनर्जी की हो रही है। सोलर पैनल जरिए ऊर्जा का संचय किया जा रहा है, लेकिन यह बहुत महंगा है। दूसरे स्रोतों से ऊर्जा प्राप्त करने में, जितना खर्च आता है, उससे आठ-दस गुना ज्यादा खर्च सोलर पैनल पर आता है। यह चलने वाला नहीं है। सूरज के आधार पर एक दूसरा रास्ता भी है, लेकिन यह बात हमारी निगाह में नहीं आती है। जितने पेड़ पौधे हैं, वे सबसे बड़े सोलर पैनल हैं। सूरज की रोशनी पत्ते पर पड़ती है, इससे जो रासायनिक प्रक्रिया होती है उसमें कार्बन डाइऑक्साइड सोखकर पेड़ ऑक्सीजन उगलते हैं। पेड़ों से हमें लकड़ी मिलती है, जो ऊर्जा

का स्रोत है। पेड़-पौधों से गाय-बैल जैसे जानवरों को चारा मिलता है। बैलों का उपयोग खेती वगैरह में किया जाता है। जैसा हो रहा है। उसके गोबर को खाद के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। इसके अलावा जब उसकी मृत्यु होती है, तो उसकी हड्डियां व चमड़ा तक काम में आ जाता है। जानवरों के गोबर से गोबरगैस प्लांट भी लगाया जा सकता है, इससे भी ऊर्जा मिलती है। इस तरह से मानव सभ्यता को लाखों सालों तक बचाया जा सकता है। आज जिस तरह प्राकृतिक संसाधनों का दोहन कर सुविधाएं ली जा रही हैं वह नहीं होगा।

खेती में किस तरह के प्रयोग हो सकते हैं ?

खेती में पैदावार बढ़ाने के लिए पैटर्न बदलना होगा। इसके लिए सबसे जरूरी तत्व होता है नाइट्रोजन। जमीन की जो क्षमता नाइट्रोजन लेने की है। वह हवा से पूरी नहीं सकती है। हालांकि हवा में बड़ी मात्रा में नाइट्रोजन पाया जाता है। जमीन में नाइट्रोजन की कमी को यूरिया से पूरा किया जा सकता है। यूरिया भी नेचुरल गैस और हवा से बनती है। अगर यूरिया की ज्यादा मांग होगी, तो इसका दाम भी बढ़ता जाएगा इसलिए इसकी जगह जैविक खाद आदि का प्रयोग किया जा सकता है। हमें याद है, हम लोगों के यहां पहले जिस खेत की उर्वरता घट जाती थी, उसको चोमास (एक सीजन खेती नहीं की जाती थी) छोड़ दिया जाता था, उसमें माल-मवेशी बांधे जाते थे, इससे उसकी उर्वरता बढ़ जाती थी। आज जिस तरह के उत्पादन की बात हो रही है, उसमें यह फिट नहीं है। अभी परमा कल्चर की बात हो रही है। इसमें यह होता है कि आम-कटहल की तरह गेहूं-चावल व अन्य उपयोगी चीजों के ऐसे बीज पैदा किए जाएं, जिन्हें एक बार लगा दिया जाए, तो सालों साल उनसे उपज मिलती रहे। यह भी एक रास्ता हो सकता है।

मीठे पानी का संकट बढ़ता जा रहा है ?

पानी जीवन के लिए सबसे जरूरी है। मानव के साथ जीव-जंतुओं सबके लिए जरूरी है, लेकिन मीठे पानी की लगातार कमी होती जा रही है। इसका खत्म होना इसका बड़ी मात्रा में उपयोग ही नहीं है, बल्कि जिस तरह से औद्योगिक कचरा, रासायनिक खादें व कीटनाशक भूजल में घुलते जा रहे हैं, उससे जल प्रदूषण बढ़ गया है। अब यह पानी जटिल रासायनिक प्रक्रिया के बाद पीने के काबिल होता है। इसमें खर्च काफी आता है। इसका खर्च उठा पाना गरीब वर्ग के बस में नहीं है। गरीब बोटलबंद पानी नहीं खरीद सकता है। पानी की समस्या भी दिनोंदिन बढ़ती जाएगी।

दुनिया के सामने जो संकट है, काफी बड़ा लगता है ?

अभी जो संकट है, उसके बारे में हमने बहुत पहले एक किताब लिखी थी... 'इंटरनल कॉलोनी'। उसके परिपेक्ष्य में बिहार था। डॉ. राम मनोहर लोहिया की सोच थी, जो पश्चिम

के देश हैं उनका विकास शोषण के आधार पर हुआ। 'इंटरनल कॉलोनी' में हमने यह लिखा था, भारत जैसे देश के अंदर जो राज्य हैं, उनमें कुछ खास इलाके जैसे मुंबई और कोलकाता। इन राज्यों का जो विकास हुआ, उनका आंतरिक उपनिवेश बना। इनके विकास में झारखंड व छत्तीसगढ़ जैसे प्रदेशों की कोयला खदानों और प्राकृतिक संसाधनों का शोषण हुआ। कोलकाता में जो जूट के कारखाने थे, उनमें बिहार के मजदूर जाकर काम करते थे। अभी भी दिल्ली और मुंबई में बड़ी संख्या में बिहार के मजदूर काम करते हैं। इसी तरह बिहार के ही भोजपुर इलाके से लोग त्रिनिदाद व मॉरीशस जैसे देशों में गए थे। दुनिया के संकट पर नजर डालें, तो पूरा पश्चिमी यूरोप संकट में है। जापान परेशानियों से घिरा है। अगर तुलनात्मक तरीके से देखा जाए, तो अभी जो पांच देशों का नया संघ बना है, जिसमें भारत, चीन, ब्राजील, दक्षिण अफ्रीका जैसे देश शामिल हैं। ये सब देश पुरानी कॉलोनी हैं और इनके पास काफी संसाधन हैं। यही इमर्जिंग पावर हैं। ये जो पुराने साम्राज्य हैं, चूंकि इनका साम्राज्य चला गया है इसलिए इनके पास संसाधनों का अभाव हो गया है। इन देशों में स्थिरता का दौर है। हां, अमेरिका की स्थिति थोड़ी अलग है। उसके पास अब भी अपने संसाधन हैं, लेकिन उसकी समस्या दूसरी है। वहां का जीवन स्तर बहुत ऊंचा हो गया है। वहां कम पैसे में मजदूर नहीं मिल रहे हैं। इसी वजह से अमेरिका से आउटसोर्सिंग हो रही है। हैदराबाद, दिल्ली, बेंगलुरु जैसे बड़े शहरों में जो कॉल सेंटर बने हैं, वो अमेरिकी आइटी, मेडिकल व अन्य सेक्टर की कंपनियों को सेवाएं दे रहे हैं। चूंकि भारत पहले कॉलोनी रहा है। अभी जिन देशों के अंदर कॉलोनियां हैं। उनकी स्थिति बेहतर है। इनमें कुछ इलाके हैं, जिनका विकास हो रहा है बाकी जो पिछड़े इलाके हैं उनका शोषण हो रहा है। हाल ही में 'द हिंदू' में एक लेख आया था, जिसमें लिखा था, ग्रीस और पुर्तगाल जैसे देशों में बड़ा आर्थिक संकट है, इन देशों के लोग ब्राजील में काम के लिए जा रहे हैं। मजेदार बात यह है, पहले ब्राजील पुर्तगाल की कॉलोनी था।

आपने चीन की बात की ?

चीन में जो बदलाव आए हैं, वह अचरज में डालने वाले लगते हैं, लेकिन गहराई से विचार करने पर साफ दिखाई देता है, यह भी समतामूलक समाज के लक्ष्यों से आधुनिक ढंग के औद्योगिकीकरण के अंतर्विरोध का परिणाम है। माओ ने शुरू में ऐसा सोचा था। एक साम्यवादी समाज की स्थापना के लिए औद्योगिक विकास के अति उच्च तक पहुंचना जरूरी नहीं की मान्यता पर था। उनका यह मानना था, लोगों की चेतना और जीवनशैली में बिना बदलाव के बिना उच्च औद्योगिक विकास हो सकता है। समतामूलक समाज बनाया जा सकता है। इसी सोच से सांस्कृतिक क्रांति का प्रयास हुआ, जिसमें लोगों की सोच को बदलने के लिए शहर के लोगों को ग्रामीण अंचलों में खेती का काम करने के लिए बाध्य किया गया। सभी स्तर पर कम्युनों की स्थापना की जाने लगी थी, लेकिन

माओ के इस सपने के बिखरने के पीछे दो कारण थे। एक यह, वह जिस कम्यून सिस्टम को लागू करना चाहता था, वह स्वतः स्फूर्त रूप से नीचे से विकसित नहीं हो रहा था बल्कि केंद्रीय सत्ता की ओर से लागू किया जा रहा था। इसका परिणाम यह हुआ, वहां जगह-जगह संघर्ष होने लगे, जिन पर सेना के बूते काबू पाया गया। दूसरा, माओ ने छोटे उद्योगों की कल्पना की थी, लेकिन इसे तात्कालिक मजदूरी से ज्यादा नहीं माना गया। विकसित उद्योगों की महत्वाकांक्षा ने छोटे उद्योगों को रौंद डाला। माओ के जाते-जाते अत्याधुनिक उद्योगों पर आधारित सैन्यबल की महत्वाकांक्षा हावी हो गई। इस व्यवस्था के लिए पूंजी संचय के रास्ते को अपनाना मजबूरी हो गई। जैसा अन्य विकसित देशों में हुआ था। औद्योगिक विकास में आम लोगों विशेषकर ग्रामीणों के हितों की अनदेखी की गई। इसके लिए प्राकृतिक व मानव संसाधनों का शोषण शुरू हुआ। संसार के पूंजीवादी प्रतिष्ठानों को आमंत्रित किया गया। चीन में स्पेशल इकोनॉमिक जोन का जाल बिछ गया।

रूस के हालात भी ठीक नहीं हैं ?

रूस के अप्रत्याशित बदलाव को समझना जरूरी है। रूस ने अपने यहां वैसे ही औद्योगिक समाज के विकास का लक्ष्य रखा, जैसा औद्योगिक क्रांति के बाद पश्चिमी यूरोप व अमेरिका में हुआ था। वह तेजी से अमेरिका से आगे निकलना चाह रहा था, लेकिन आधुनिक उद्योगों के लिए पूंजी जुटाने का समाज में काफी विरोध रहा। वहां मजदूरों पर काम का बोझ बढ़ाने के लिए पीस रेट की व्यवस्था लागू की जाने लगी। किसानों की जमीन को सामूहिक फर्मों के लिए अधिग्रहीत कर लिया गया। उन्हें अधिकारियों की देखरेख में कड़ी शर्तों पर काम के लिए मजबूर किया गया। कृषि से होने वाली आमदनी को उद्योगों के विकास में लगाया जाने लगा। इससे उद्योगों के लिए पूंजी संचय तो हुआ, लेकिन इससे सरकार और नौकरशाही के प्रति इतना गुस्सा बढ़ा, पूरी व्यवस्था धराशायी हो गई, नतीजे सबके सामने हैं। इससे, जो पूंजीवाद पैदा हुआ, वह बहुत ही अस्वस्थ है। अपने प्राकृतिक संसाधनों की वजह से रूस पूंजीवादी व्यवस्था के रूप में प्रभावी बना हुआ है, लेकिन वहां के लोगों का जीवन स्तर देश की विशाल संपदा के हिसाब से काफी नीचा है।

विकास को आप किस रूप में देखते हैं ?

इससे पर्यावरण का खतरा दिनोंदिन गहराता जा रहा है। एल्डस हक्सले ने 1948 में अपनी एक पुस्तक – 'ए. कंजेशन' में लिखा है, दुनिया में एक परमाणु युद्ध हुआ है। युद्ध के बाद दुनिया में इतना विकिरण हो रहा है कि दुनिया के बड़े शहर के बड़े शहर नष्ट हो गए हैं। दो सौ साल के बाद किसी द्वीप पर कुछ लोग बचे हुए हैं। उसके वैज्ञानिक यह देखने के लिए निकलते हैं, दुनिया की क्या स्थिति है। वह घूमते-घूमते उस स्थान पर पहुंचते हैं जहां आज हॉलीवुड है। वहां बड़े-बड़े टीले पड़े हुए हैं। पूरा खंडहर बना हुआ है।

उसके भीतर कुछ लोग कुछ खोद रहे हैं। वह टीलों के नीचे दबी खाने लायक सामग्री निकालकर खा रहे हैं। जब वैज्ञानिक उनके पास जाते हैं, तो उन लोगों ने उन्हें पकड़ लिया। इसके बाद वह वैज्ञानिकों को अपने महापुरोहित के पास ले जाते हैं। जैसे अभी इसाई समुदाय के लोग क्रॉस का चिह्न पहचते हैं, वैसे वहां वह लोग सिर पर सींग पहने रहते हैं। जब सींग के बारे में पुरोहित से वैज्ञानिक जानना चाहते हैं, तो वह बताना शुरू करता है, जब से दुनिया की शुरुआत हुई है, तभी से ईश्वर और शैतान में लड़ाई चल रही है, लेकिन ईश्वर हमेशा ज्यादा शक्तिशाली होते थे, लेकिन जब से औद्योगिक क्रांति की शुरुआत हुई है, तब से शैतान की ताकत बढ़ने लगी, ईश्वर की ताकत घटने लगी। जो दूसरा विश्वयुद्ध हुआ, उसमें शैतान संसार का मालिक हो गया चूंकि संसार का मालिक शैतान है, इसलिए हम लोग सींग लगा लिए हैं।

यह तो कहानी की बात रही, लेकिन जिस तरह से औद्योगिक विकास हो रहा है, उससे अब किसी परमाणु युद्ध की जरूरत नहीं है। औद्योगिकीकरण ही विश्व को बरबाद करने के लिए काफी है। पर्यावरण की जो स्थिति बन रही है, उससे कहीं न कहीं हम लोग, उस स्थिति की ओर बढ़ते जा रहे हैं। महात्मा गांधी की अराजकवादी जो सोच है, उसमें और अमेरिका के सबसे बड़े अराजकतावादी विचारक जॉन जरजन के विचारों में काफी समानता है। गांधीजी ने आगे का रास्ता बताया है, जबकि जॉन जरजन ऐसा नहीं कर पाए हैं।

आने वाले दिनों को आप कैसे देखते हैं ?

गांधीजी की कल्पना स्वशासी ग्रामीण इकाइयों की थी। यह एक व्यावहारिक कल्पना थी, जो बढ़ते ऊर्जा संकट के साथ और प्रभावी बनती जाएगी। एक-दो सौ सालों में विशाल नगरीय व्यवस्थाएं ऊर्जा व पर्यावरण संकट की वजह से खत्म हो जाएंगी। आवागमन की व्यवस्था भी ध्वस्त हो जाएगी। ये चीन की दीवार व मिस्र के पिरामिड की तरह खंडहर बनकर नुमाइश की चीजें बन जाएगी। गांधीजी राजकीय व्यवस्थाओं की अनदेखी किए बिना उनके संघर्ष के साथ ऐसे काम करना चाहते थे, जो समाज निर्माण को दिशा दें। उनका समाज अराजकतावादियों से मिलता-जुलता रहा था, लेकिन वे अधिक व्यावहारिक थे, जहां संभव हुआ, मॉडल के रूप में छोटे स्तर पर निर्माण करते रहे। ऑल इंडिया विलेज इंडस्ट्रीज एसोसिएशन, जो पहले अप्रासांगिक लगता था, इसके मायने अब समझ में आने लगे हैं।

जनसंख्या काफी तेजी से बढ़ रही है ?

यह समस्या गरीब देशों में है। जो अमीर देश हैं, उनके पास जनसंख्या नियंत्रण के संसाधन हैं। गरीब देश जो हैं, उनके अंदर इस तरह की धारणा का भी अभाव है। अपने यहां ही जो मध्यमवर्गीय परिवार हैं, वह सोचते हैं ज्यादा बच्चे होंगे, तो उनका लालन-पालन करना कठिन होगा, लेकिन जो गरीब मजदूरी करता है, उसके सामने वह समस्या

नहीं है। हमें याद है, काफी पहले एक व्यक्ति था हमारे गांव में, वह कहता था, जो बाबू लोग हैं, उनके पास पैसे बहुत होते हैं, अगर ज्यादा बच्चे होंगे, तो जमीन टुकड़ा-टुकड़ा बंट जाएगी, लेकिन हमारे पास क्या है? अगर पांच बच्चे होंगे, तो दस हाथ कमाने वाला होगा। यह धारणा है। इसे बदलने की जरूरत है। ऐसी सोच जो लोग रखते हैं, उन्हें पता नहीं कि आखिर उनके पास कमाने के संसाधन कहां से आएंगे। आबादी बढ़ने का एक बड़ा कारण यह भी है। बड़ी आबादी के पास भविष्य के लिए कोई तस्वीर नहीं है। विकसित देशों में ठीक इसका उल्टा है। वहां आबादी या तो स्थिर हो गयी है या फिर घट रही है।

आपके मुताबिक विकास का कौन सा मॉडल अपनाना चाहिए ?

अभी तक विकास का मतलब अपने यहां माना जाता है। मोटर-गाड़ी हो। बड़े कारखाने हों, इसके लिए बड़े पैमाने पर ऊर्जा की आवश्यकता होगी। कोयला हमारे पास नहीं है। पेट्रोलियम की व्यवस्था भी अपने यहां नहीं है। बड़े हाइड्रिल पावर की संभावना भी यहां नहीं है। ऐसे में सोलर पावर ही विकल्प बचता है, लेकिन इसको बिजली में बदलकर नहीं। इसके लिए दूसरा रास्ता अपनाना होगा। उदाहरण के तौर पर सोलर कूकर। यह ज्यादा कठिन भी नहीं है। इसमें साधारण सा एक बक्सा होता है, जिसमें साधारण ग्लास का एक कवर होता है। ग्लास रोशनी के लिए पारदर्शी होता है, जबकि ताप के लिए अपारदर्शी होता है। इससे आसानी से खाना बनाया जा सकता है। पहले सोलर कूकर का इस्तेमाल होता था। हवा भी विकल्प हो सकती है, लेकिन परेशानी यह है, अपने यहां बिजली का क्रेज है। पहले कोयले से बिजली बनाई जाती है फिर उसका इस्तेमाल विभिन्न कामों पर किया जाता है। हवा से भी बिजली बनाई जा सकती है। दक्षिण के राज्यों व गुजरात में ऐसा हो रहा है।

आप जिस मॉडल की बात कर रहे हैं, क्या वह प्रासंगिक है ?

इस मॉडल के आधार पर लोगों को स्वस्थ जीवन तो दिया जा सकता है, लेकिन मोटर-गाड़ी व हवाई जहाज की सुविधा नहीं दी जा सकती है। इसके लिए पहले मानसिक रूप से तैयार होना होगा। मुजफ्फरपुर को मुंबई नहीं बनाया जा सकता है। भारत को अमेरिका नहीं बनाया जा सकता है। दिमाग को साफ रखने की जरूरत है। अमेरिका, दिल्ली व मुंबई की जिंदगी बहुत अच्छी है ऐसा नहीं है। अपने यहां से ज्यादातर लोग वहां इसलिए जाते हैं, क्योंकि उनके पास आजीविका का साधन नहीं है। मजबूरी में वह वहां जाते हैं। उदाहरण के तौर पर दिल्ली में इस समय बिहार के पचास से साठ लाख लोग हैं, इसमें बामुश्किल से दस फीसदी लोग ऐसे हैं, जिनके पास अच्छी नौकरी है, बाकी लोग मजदूरी जैसा ही काम करते हैं, जिस तरह की जिंदगी वह वहां जी रहे हैं वैसी जिंदगी उन्हें अपने प्रदेश में भी मिल सकती है।

स्त्री विमर्श को शरीर से ऊपर उठकर देखने की जरूरत : शिवमूर्ति

पिछले दिनों प्रख्यात कथाकार शिवमूर्ति अपने किसी निजी पारिवारिक कार्य के सिलसिले में नागपुर आए और फिर महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में अपने अभिन्न कथाकार मित्र और राइटर इन रेजीडेंस संजीव के पास बतौर अतिथि ठहरे। इस दौरान विश्वविद्यालय के स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय में शिवमूर्ति का कहानी पाठ रखा गया, जहां उन्होंने 'सिरी उपमा जोग' कहानी पढ़ी। श्रोताओं की मांग पर उन्होंने अपनी एक और कहानी 'केशर कस्तूरी' भी सुनाई। युवा कथाकार राकेश मिश्र द्वारा इस मौके पर हिंदी कहानी और साहित्यिक मुद्दों पर शिवमूर्ति से की गई बातचीत के प्रमुख अंश :

शिवमूर्ति से यह बातचीत राइटर इन रेजीडेंस संजीव के नागार्जुन सराय स्थित कमरे पर हुई। इस बातचीत के दौरान एकाध बार संजीव भाई भी शामिल हुए खासकर नए लेखकों के मुद्दे पर। संजीव ने शिवमूर्ति को आगाह किया कि यदि उन्होंने नए कहानीकारों को ज्यादा नहीं पढा हो तो, उस पर बात नहीं करनी चाहिए। इस पर शिवमूर्ति ने एक कहानी 'लघुत्तम समापर्वतक' (दीपक श्रीवास्तव) का नाम लिया लेकिन वाकई ज्यादा वस्तुपरक बातचीत नवलेखन को लेकर नहीं हो सकी, इसलिए उसे प्रश्नोत्तर से अलग ही रखा गया। पहले से कोई तयशुदा प्रश्नावली नहीं थी लेकिन कहीं से तो बात शुरू करनी थी। मैंने देखा कि मेरे आने से पहले- शिवमूर्ति बी.एस.नायपाल की किताब 'ए हाउस फॉर मि. विश्वास' पढ रहे थे इसलिए बातचीत का सिरा वहीं से मतलब विदेशी लेखन का हिंदी कहानियों पर प्रभाव से ही शुरू हुआ।

जैसे नई कहानियाँ तक तो यह बात दिखाई देती है कि जितने भी पश्चिम के लेखक थे, उनका सीधा असर हिंदी पर पड़ रहा था और एक तरह से यह एक आंदोलन सा चल रहा था लेकिन जैसे ही साठोत्तरी कहानियाँ आनी शुरू होती हैं, यह असर कम होता दिखता है। लोग अपने तरीके से कहानियाँ लिखना शुरू करते हैं जैसे काशीनाथ सिंह या दूधनाथ सिंह पर ऐसा कोई साफ असर नहीं दिखाई देता जैसे चेखव का राजेंद्र यादव पर। इस पर आपका क्या विचार है?

हां, मुझे भी यही लगता है रेणु पर विदेश का असर बिल्कुल भी नहीं है लेकिन राजेंद्र यादव, मोहन राकेश और कमलेश्वर आदि को देखा जाए तो इन पर यह असर कम से कम कला के, क्राफ्ट के स्तर पर जरूर दिखता है। ये लोग बाहर का साहित्य पढ़ते थे और अंग्रेजी से वाफिक थे लेकिन बाद की पीढ़ी जैसे-हमारी पीढ़ी में संजीव, चंद्रकिशोर जायसवाल जैसे लोग जिनकी अंग्रेजी उतनी अच्छी नहीं थी इसलिए उनका वहां की चीजों से तुरंत-तुरंत, ताजा-ताजा परिचय नहीं रहता था कि वहां क्या छप रहा है। यदि परिचय हो जाता तो यकीन मानिए कि रचना में उसका कुछ न कुछ असर आता ही आता। जैसे-उदयप्रकाश आज कोई भी कहानी लिखते हैं, तो उसके छपते ही लोग उसमें असर ढूँढना शुरू कर देते हैं।

हमारे यहां जो पश्चिम को ज्यादा पढ़ा गया तो क्या इससे कहानियों की भारतीयता या हिंदी की जातीयता पर कुछ सकारात्मक या नकारात्मक असर भी आए?

मुझे ऐसा लगता है कि जो कला का स्तर है उसका तो निश्चित रूप से सकारात्मक असर होगा क्योंकि अपने यहां की जो पुरानी कहानियाँ थीं जैसे- 'गुलबकावली' या जो ईरान, उर्दू या फारसी से आई हुई थीं, उसमें इतिवृत्तात्मकता थी लेकिन जब विदेशों की कहानियाँ आईं तो वह टूट-टूटा-टूटा चलती थीं। वह जिस एक पार्टिकुलर विषय को उठाती थीं, उसी पर खत्म हो जाती थीं। पश्चिम से जो नॉवेल और कहानियाँ आईं, हम उसके इंपैक्ट से भी परिचित हुए। उसका पॉजिटिव असर रहा। हां इससे, अपनी भारतीयता, अपनी समस्याएं, अपनी चीजें, उसमें कहने के तौर-तरीके में कितनी कमी हुई या बदलाव हुए इस पर विचार किया जा सकता है।

जैसा आपने कहा कि आपकी पीढ़ी अंग्रेजी कम जानती थी या पश्चिम से कम परिचित थी किन उनकी कहानियाँ ग्रामीण जीवन के अधिक करीब रहीं या मानी गईं तो क्या पश्चिम को कम जानना हिंदी साहित्य या हिंदी कहानियों के लिए ज्यादा फायदेमंद होगा?

देखिए, किसी चीज को कम जानना कभी भी फायदेमंद नहीं हो सकता। आप अगर कोई चीज जानेंगे तो, उससे कहीं न कहीं, कभी न कभी लाभ उठा सकते हैं। मैं यह भी कहता हूँ कि आप अपनी चीज भी देखिए और दूसरे की चीज को भी जानिए, और तब उसमें तुलना कीजिए। चीजें आप अपनी दीजिए क्योंकि दर्द आपका अपना है। यदि आपको

कांटा गड़ा है तो आप तलवार के घाव के दर्द का बखान नहीं कर सकते। हां, यदि आप वास्तविकता से परिचित हैं तो तलवार के घाव के दर्द की टीस को उस कांटे गड़ने से हुए दर्द के अंदर पैदा कर सकते हैं। उसको जानने से ये फायदा है। शब्द आप अपने ही दर्द को दीजिए तो मैं ऐसा मानता हूँ कि बाहर की चीज को जरूर जानना चाहिए।

मैं जानना चाहता हूँ कि जैसे आलोचना ने तो कहानियों को अधिक महत्व दिया नहीं, कविता केंद्रीय विधा रही या गद्य में उपन्यास केंद्र में रहा फिर भी कहानीकार लिखते रहे और कम से कम पाठकों के नजरिए से कहानी को केंद्रीय विधा बनाते रहे, यह कहानी की कौन सी ताकत रही है?

मुझे लगता है कि कहानी जिस विषय या समस्या को लेकर चलती है उसे 8-10 पेज में किसी मुकाम तक पहुंचा देती है। यह लंबा इंतजार नहीं करवाती बरक्स उपन्यास के। तो यह पाठक को आसानी से पकड़ लेती है। रह गई बात कि आलोचना ने महत्व नहीं दिया तो मुझे लगता है कि अगर आलोचक वास्तव में मेहनत से विश्लेषण करेंगे तो एक कहानी का विश्लेषण करने में भी, उन्हें, उतनी ही मेहनत करनी पड़ेगी, जितना एक उपन्यास का विश्लेषण करने में। अगर उतनी नहीं करनी पड़ेगी तो समझिए एक उपन्यास में दो कहानी के बराबर मेहनत करनी पड़ेगी। मुझे लगता है कि आलोचकों को यह सौदा सस्ता लगता है कि जब कलम उठानी ही है तो उपन्यास पर उठाओ। एक दस पेज की कहानी के लिए यदि आलोचक कलम उठाएगा तो भी उसे कम से कम पांच पेज तो लिखना ही पड़ेगा जबकि एक उपन्यास पढ़कर वह दस पेज आसानी से लिख भी लेगा और उपन्यास का आलोचक भी कहलाएगा। यह लाभ उसे कहानियों से नहीं मिलेगा। एक कहानी पर बात करते समय उसे पांच पेज लिखने के लिए ज्यादा गहराई तक जाना पड़ता है इसलिए भी आलोचक इससे बचते हैं। कम मेहनत में सुर्खरू बनना, किसे अच्छा नहीं लगेगा?

अच्छा आप ये बताइए कि आपको अपनी रचनाओं को लेकर पाठकों से किस प्रकार की प्रतिक्रियाएं मिलीं?

देखिए, मैंने ज्यादा तो लिखा नहीं, फिर भी जितना लिखा उस पर प्रतिक्रियाएं उत्साहवर्धक मिलीं। मेरा लेखन किसी बड़े सिद्धांत की छाया में सिमटा भी नहीं है। मैंने, जिस मामूली आदमी की जिंदगी को देखा, उसी को लिखा। मैं अपने लेखन की बहुत हाई रेटिंग नहीं करता, लेकिन मैंने अब तक जितना लिखा, उसको कोई कूड़ा कहने वाला भी नहीं मिला।

जिस चीज को आप मामूली मानते हैं वह मामूली चीजें लिखना, तो गैरमामूली काम है। आम तौर पर, जब लेखक लिखने बैठता है तो उसके सामने एक बड़ा कांसेप्ट या विचार होता है। वह मामूली चीजें लिखे और उससे निकलकर एक बड़ी बात सामने आ जाए यह कोई मास्टर कहानीकार ही कर सकता है। आपने कभी इसके लिए अतिरिक्त दबाव

महसूस नहीं किया कि जो मैं लिख रहा हूँ इसका महत्व बहुत ज्यादा होगा। जैसे प्रेमचंद बहुत सहज थे लेकिन उनसे बड़ा अभी तक कौन हो पाया तो आप इस तरह के लेखन या सहजता को कैसे लेते हैं?

मेरे मन में कहानी जैसे आती है मैं वैसे ही लिख देता हूँ। मेरे मन में इसके लिए पहले से कोई सिद्धांत नहीं होता। मैं जीवन को ही देखता हूँ, मेरे मन में उसी की कोई झलक आती है, उसी को लिख देता हूँ। चूंकि जीवन में भी वे सारी चीजें मौजूद हैं जैसे- विसंगतियां, दुख-दर्द एवं खुशी तो वे ज्यों की त्यों मेरे लेखन में आ जाती हैं, अलग से उसे हाईलाइट करने की जरूरत मुझे नहीं पड़ती। यह स्वभावगत चीजें हैं, अलग से कोई दबाव नहीं होता। मैं कठिन लिखना चाहूँ तो भी नहीं लिख सकता। खुशी की बात यह है कि जो मैं लिखता हूँ वह लोगों को पसंद आ जाता है, अन्यथा इसके अतिरिक्त मैं कुछ लिख ही नहीं सकता था।

जैसा आपने कहा कि मैं जीवन को सहजता से लेता हूँ और सहजता से लिख देता हूँ लेकिन आपकी कृतियों में जो चरित्र आते हैं वह कहीं न कहीं अपने समय के विमर्शों से अलग चले जाते हैं। खासकर जो आपकी कहानियों में स्त्रियां आती हैं, वह कृष्णा सोबती की कहानियों से बिल्कुल भिन्न हैं, उनकी यौनिकता उसके केंद्र में हैं लेकिन आपकी स्त्री चरित्र जब भी आती हैं, उनमें आक्रोश और पीड़ा तो होती है लेकिन उसे अतिक्रमित करने की बहुत इच्छा नहीं होती। यह चीजें समकालीन स्त्री-विमर्श के बिल्कुल उलट चली जाती हैं?

(संकोच भाव से) हां, कभी-कभी मैं भी यह सोचता हूँ। 'सिरी उपमा योग' में मैंने जिस तरह की स्त्री को खड़ा किया उस के व्यवहार पर प्रश्नचिह्न लगाया जा सकता है, कि उसके अंदर विद्रोह क्यों नहीं है? यह प्रश्न खड़ा होता है कि लालू की माई को जब पता चल गया कि उसके पति ने दूसरी शादी कर ली है तो वह उनके वेतन में हिस्से के लिए मुकदमा कर सकती थी। शहर जाकर उसे, जलील कर सकती थी लेकिन वह ऐसा बिल्कुल नहीं करती। वास्तव में, जिस सामाजिक परिस्थिति से ऐसे पात्र आते हैं, उनमें भौतिक रूप से लाभ प्राप्त करने की अपेक्षा अपने आत्मसम्मान के लिए कुछ भी न्योछावर कर देने का भाव प्रबल रहता है। अपने आप पर अपनी मेहनत पर ज्यादा भरोसा रहता है। वह विश्वास के साथ कहती है कि- 'मैं तो लालू को उसके बाप से भी बड़ा साहब बनाकर दिखाऊंगी।' ऐसी स्त्रियों का मानना है कि- 'तुम मुझे चाहते हो तो मैं सौ बार तुम्हें चाहूंगी और तुमने मुझे त्यागा तो मैं जिंदगी भर तुम्हारा मुंह नहीं देखूंगी।' मध्यवर्गीय शहरी मानदंड से इस भाव की थाह पाना संभव नहीं है राकेशजी। इसलिए मेरी कलम से लालू की माई के विद्रोह या प्रतिशोध की बात नहीं निकली। 'केसर-कस्तूरी' कहानी में भी कुछ ऐसी ही स्थिति है। अब इस लेखनदृष्टि को हां कहिए तो हां, नहीं कहिए तो नहीं।

हिंदी में मैं एक उपन्यास 'मित्रों-मरजानी' का जिक्र करना चाहूंगा, उसमें जो मित्रो है वह पढ़ी-लिखी नहीं है लेकिन अपनी यौनिकता को लेकर काफी स्वतंत्र है बरक्स इसके आपकी कहानियों के स्त्री-पात्र यौनिकता के दबाव में हैं? ऐसा लगता है आपने अपनी सभी कहानियों में यौनिकता को नियंत्रित करने की कोशिश की है।

हां, मेरी कहानियों में ऐसा है। दरअसल वहां वर्ण्य विषय ही यौनिक स्वतंत्रता नहीं है। जैसे 'केसर-कस्तूरी' में जो केशर की उम्र है या जो उसकी तत्कालीन परवरिश है, उसके सामने इस तरह की चुनौती आई ही नहीं है। समाज के साथ उसका उस तरह का इंटरैक्शन भी नहीं हुआ है। मुझे लगता है कि मेरे सारे चरित्र इसके बियॉड जा ही नहीं सकते चूंकि यह जिस समाज से हैं, वहां अभी इस यौनिकता से बाहर निकल जाने की न तो स्थितियां हैं और न यह इसकी जरूरत महसूस करते हैं।

यदि आपके लेखन को आधुनिक विमर्शों पर कसा जाए तो क्या आपको ये नहीं लगता कि यह उन विमर्शों पर खरे नहीं उतर पाते हैं?

देखिए, विमर्शों की अपनी सीमा है। जीवन विमर्शों से ऊपर है। जीवन सिद्धांतों से ऊपर है। विमर्श जीवन से पैदा होते हैं। विमर्श टार्च की लाइट है। जितना दिखाती है उससे ज्यादा छिपाती है। जीवन सूरज का उजाला है अगर दिन में देखने का मौका मिलता है, मतलब सीधे-सीधे जीवन को देखने का मौका मिलता है तो टार्च जलाने की क्या जरूरत है? दिन में कोई टार्च जलाता है?

तो क्या आज का जो स्त्री-विमर्श है वह जीवन से हटकर चल रहा है?

यदि आप इतनी गहराई तक जाते हैं तो इस पर भी अन्य तरीके से सोचिए। क्या स्त्री-विमर्श में केवल शरीर है? स्त्री-विमर्श में स्वायत्तता भी है, अपने आप पर निर्भर होने की जद्दोजहद भी है। नहीं है ? नारी विमर्श केवल शरीर तक या यौनिकता तक सीमित नहीं है। यौनिकता तो उसकी व्यक्तिगत बात हैं, निजी स्वतंत्रता है। इससे महत्वपूर्ण स्त्री के संबंध में कुछ अन्य चीजें हैं उन पर भी नजर डालने की जरूरत है। हमारी सारी कहानियों को गहराई से देखें तो अन्य चीजें स्पष्ट हो जाएंगी। मेरे यहां स्त्री पात्र अपने रास्ते खुद बनाती हैं, वे सारे विकल्पों पर विचार करने के बाद अस्वीकार्य को अपने एक्शन से नकारती हैं। यह यौनिकता की समस्या से ऊपर की चीज है। (उदाहरण के रूप में 'केशर-कस्तूरी' की केशर एवं 'सिरी उपमा' जोग की लालू की माई को आप देख सकते हैं) स्त्री-विमर्श को उसके शरीर के स्तर से थोड़ा ऊपर उठकर देखने की जरूरत है, तब आपको लगेगा कि यह सब एक लाइन में खड़ी हुई मेहनतकश स्वावलंबी और दृढ़ इच्छा शक्ति की महिलाएं हैं। आज की लेखिकाओं को ऐसे चरित्रों पर भी लिखने की जरूरत है। केवल यौनिक स्वतंत्रता ही सब कुछ नहीं है।

आखिर वे भी तो चरित्रों को वहीं से ला रही हैं, जहां से आप?

क्योंकि ये लेखिकाएं आर्थिक रूप से मजबूत हैं, इसलिए यौनिकता इनके यहां केंद्र में है। जिनकी समस्या अर्थ है, वहां से कोई लेखिका सामने आएगी तो उसका भी प्राथमिक सरोकार वही होगा, जो हमारा है।

अच्छा, ये कहां तक उचित है कि कहानी को ग्रामीण और शहरी संवेदना से देखा जाए?

देखिए, बंटवारे की तो कोई बात ही नहीं है, जीवन हर जगह है, शहर में भी गांव में भी। जो जहां का देखे वहां का लिखे ताकि जो रचना में आए, बनावटी न हो, प्रामाणिक हो। फैशन के तौर पर न हो कि चलो हफ्ते भर गांव में रहकर गांव की कहानी लिख लेते हैं। इसीलिए तो कहा जाता है कि हर क्षेत्र से लेखक आने चाहिए। जैसे- कोई झुग्गी-झोपड़ी वाला लेखक हमारे बीच नहीं आया तो हम वहां के जीवन के बारे में गहराई से नहीं जानते।

90 के दशक में यदि देखा जाए तो अधिकांश लोग गांव से शहर चले आए, बचपन उनकी स्मृतियों में रचा-बसा रहा। बीच-बीच में गांव आते जाते रहे और गांव और शहर में हो रहे परिवर्तनों को तुलनात्मक दृष्टि से देखते रहे तो इस तरह का लेखक तो गांव के भीतर का नहीं रहा?

यह हमारे हिंदी साहित्य का दुर्भाग्य है कि गांव में रहकर कोई गांव के बारे में लेखन नहीं कर रहा है। यदि ऐसा होता है तो जाहिर है कि उसका लेखन ज्यादा अधिक प्रामाणिक होता।

तो रेणु के बाद आप किसको मानते हैं कि जिसने गांव में रहकर उसकी आंतरिक संरचना को प्रामाणिक रूप से व्यक्त किया हो?

अब प्रेमचंद और रेणु ही ऐसे लेखक रहे जिन्होंने अधिकांशतः गांव में रहते हुए लेखन कार्य किया। अब कोई नहीं है। जितने भी गांव के लेखक थे वे शहर जा चुके हैं इसीलिए उनके लेखन में प्रामाणिकता का प्रतिशत कहीं न कहीं कम हुआ है। पंजाब के लेखक गांव में रहकर लेखन करते हैं, उनकी रचनाएं अनूदित होकर आती हैं तो देखिए क्या जीवन धड़कता है उनमें? हमारी हिंदी कहानियों में ऐसा नहीं है।

तो आप अपने-आप को इसमें कहा पाते हैं?

मेरी भी वही दशा है। मैं भी शहर आ गया हूं, सुविधाभोगी हो गया हूं। मैं भी नहीं कह सकता कि मेरे अंदर वह दर्द और बेचैनी है इसलिए मैं यह नहीं मानता कि उसी तरह गांव का लेखक हूं जैसे- प्रेमचंद और रेणु हैं। गांव का इतना विकास हो कि गांव में लोग

रहें और वहां के बारे में लेखन करें तो निश्चय ही वे लोग भी प्रथम श्रेणी के लेखक हो सकेंगे।

कभी 'विचारधारा' को लेकर आपने सोचा है कि एक कहानीकार की कैसी विचारधारा होनी चाहिए?

लेखक को शोषण, असमानता और अन्याय के खिलाफ खड़ा होना चाहिए, यही लेखक का धर्म है जो विचारधारा असमानता, धर्मांधता, शोषण और अन्याय दूर करने में सहायक हो वही लेखक की विचारधारा होनी चाहिए।

क्या आपको नहीं लगता है कि आज के आलोचकों का एक अपना लेखक संगठन है, वे उसी सीमा और उन्हीं लेखकों पर बात करना अपना धर्म समझते हैं, उससे बाहर नहीं आ पाते?

देखिए, यदि वे ऐसा करते हैं तो वे अपना कद छोटा करते हैं। वे आलोचना कर्म की गरिमा को घटते हैं। ऐसा करने से आप देख लीजिए क्या आलोचक की जैसी गरिमा पहले थी वैसी आज है? यदि वे अपनी गरिमा भूलकर अपनी व्याप्ति सीमित कर रहे हैं तो इस पर उनको सोचना चाहिए। आलोचक को बहुश्रुत, बहुपठ और निःसंग होना चाहिए, उन्हें सिर्फ कृति पर ध्यान देना चाहिए किसी खास वर्ग, वर्ण, खेमा या व्यक्ति से नहीं बंधना चाहिए।

जो आपकी कहानियाँ पर फिल्में बनी, उस पर आपकी क्या राय है?

तीन कहानियों पर फिल्में बनी 'कसाईबाड़ा', 'भरतनाट्यम' और 'तिरिया चिरत्तर'। 'तिरिया चिरत्तर' को ही यदि हम देखे तो मैं ये कहना चाहूंगा कि जिस तरह चीजें कहानी में थीं उस तरह फिल्म में नहीं आ पाई हैं। कसाईबाड़ा अपेक्षाकृत प्रभावशाली बनी है क्योंकि इसके निर्देशक नाट्यकर्मी थे। भरतनाट्यम मैं देख नहीं पाया हूँ। फिल्मकार कहानी में अपनी दृष्टि से काट-छांट कर देता है, उसे वह अपने हिसाब से देखता है। यदि कहानीकार फिल्म की पटकथा स्वयं लिखे और स्वयं फिल्म बनाए तो वह अधिक प्रभावकारी व अच्छी होगी, लेकिन इसके विपरीत भी हो सकता है।

समकालीन साहित्यिक कृतियों पर जो फिल्में बन रही हैं, जैसे- पुरानी फिल्मों में हम देखें तो तीसरी कसम, सारा आकाश, माया दर्पण पर अच्छी फिल्में हैं तो क्या आज की कहानियों में फिल्म के तत्व कम हैं, नाटकीयता ज्यादा है जैसे- उदयप्रकाश की मोहनदास और प्रियंवद की कहानियों पर दो फिल्में आईं लेकिन दर्शक उसे पसंद नहीं कर रहे हैं, इसके क्या कारण हैं?

दर्शक आजकल पसंद क्या कर रहे हैं? उनका टेस्ट बदल गया है। यह भी हो सकता है कि साहित्यिक कृतियों पर फिल्म बनाने में कुछ कमियां, संप्रेषण या विषयगत कुछ कमियां रह जाती हैं, इस कारण पसंद नहीं आती होंगी। प्रश्न यह भी है कि कितने और कैसे लोगों को उसे देखने का अवसर मिलता है। आम दर्शक की रुचि कितनी विकृत की जा रही है, यह भी विचारणीय है। समग्रता में तो इसके बारे में विशेषज्ञ ही बताएं तो ज्यादा सही रहेगा।

आपने मुझे बातचीत का मौका दिया इसके लिए आपका बहुत-बहुत धन्यवाद।

आपको भी धन्यवाद।

(यहां यह बताना जरूरी है कि तमाम सवालों के जवाब में शिवमूर्ति की अपनी किस्सागोई शैली चरम पर थी, उन्हें सायास सवाल-जवाब की शैली में लाया गया है। यह बातचीत रिकॉर्ड है और इसे शोध छात्र प्रदीप कुमार त्रिपाठी ने लिपिबद्ध किया है। प्रदीप एम.ए.का लघु शोध-प्रबंध शिवमूर्ति पर लिख चुके हैं।

धरती पर स्वर्ग मन्नार

बलराम अग्रवाल

केरल भारत के दक्षिण में स्थित ऐसा अद्भुत राज्य है जहां की धरती के एक ही टुकड़े पर आपको इतने रंग देखने को मिल जाएंगे, जितने अन्य राज्य के किसी उपवन में भी शायद न मिलें। हमारा सौभाग्य यह था कि हम मानसून के बाद वाले मौसम में गए यानी कि उन दिनों, जब केरल के पहाड़ी क्षेत्र लगातार होती रहने वाली बारिश से लगभग निजात पा चुके होते हैं। प्राप्त जानकारी के अनुसार इन क्षेत्रों में भ्रमण के लिए जाने का आनन्द नवंबर माह के प्रारंभ से लेकर फरवरी माह के अंत तक ही अधिक है। वैसे समझदारी की बात तो यह होगी कि केरल क्या, कहीं भी जाने से पहले, जो भी माध्यम उपलब्ध हो उसके अथवा इंटरनेट के माध्यम से अपनी यात्रा के दिनों में वहां के मौसम की स्थिति संबंधी पूर्व-सूचनाओं से अवगत हो लिया जाए और उनके अनुरूप ही अपनी यात्रा के दिन तय किए जाएं। केरल क्योंकि पर्वतों और सागरों से सजा-संवरा राज्य है इसलिए यात्रा पर निकलने से पहले, वहां के पर्वतों और सागरों से संबंधित न केवल सूचना बल्कि प्रत्येक जानकारी भी हमारे पास होनी चाहिए।

केरल के 'एलेप्पी'(Alleppey) कहे जाने वाले नगर का पूरा नाम 'एलप्पुझा' (Alappuzha) है 'एलेप्पी' 'निकनेम' है, इस बात का पता मुझे 'मुन्नार'(Munnar) पहुंचने के बाद वहां के एक टूर-एजेंट के ऑफिस में लगे केरल के नक्शे में उसके पूरे नाम को पढ़ने के बाद चला और उसका सही उच्चारण 'अलप्पुझा' है, इस तथ्य को मैंने एलेप्पी नगर अथवा राज्य प्रशासन की ओर से राष्ट्रीय राजमार्ग के किनारे जगह-जगह पर लगाए गए नामपट्टों पर नगर के नाम को देवनागरी में पढ़ने के बाद जाना। ऐसे राज्यों की अपेक्षा जो हिंदी-भाषी राज्यों के बहुत निकट स्थित हैं, केरल की विशेषता यह है कि यहां

पर मार्ग आदि से संबंधित नामपट्ट मलयालम के साथ-साथ देवनागरी व रोमन में भी देखने-पढ़ने को मिल जाते हैं। पंजाबी के नामपट्ट गुरुमुखी जैसा तालिबानी चरित्र आपको यहां नहीं मिलेगा। 'मुन्नार' कहे जाने वाले स्थान का भी सही उच्चारण 'मन्नार' है, इस बात को 'मन्नार इन' (होटल व रेस्टोरेंट) के अपने कमरे में रखे टेलीविजन सेट पर चल रही किसी वार्ता को अचानक सुनते हुए 6 नवंबर-09 की सुबह मैंने, तब जाना जब राज्य के किसी निवासी ने स्थान के नाम का उच्चारण अपने मुख से किया। इन दोनों ही घटनाओं ने मेरी इस धारणा को और अधिक पुष्ट कर दिया कि इस देश के हर नगर, हर कस्बे और हर गांव, हर वस्तु और व्यक्ति ही नहीं कण-कण के नाम के सही उच्चारण को प्रस्तुत करने वाली एक वृहत उच्चारण कोश-श्रृंखला की देवनागरी में नितांत आवश्यकता है।

यों तो भ्रमण-आदि संबंधी अनेक इच्छाओं की पूर्ति का संबंध व्यक्ति की पारिवारिक जिम्मेदारियों के पूरा होने-न-होने से जुड़ा है, तथापि मेरा अनुभव है कि व्यक्ति की इच्छा अगर तीर्थयात्रा पर भी निकलने की है तो उसे रिटायरमेंट का दिन आने तक टालते न रहकर मन और शरीर के शक्ति-संपन्न व निरोग रहते पहले ही पूरी करते रहना चाहिए। यात्राएं मन में उल्लास भरती हैं। शरीर और मन से कमजोर व्यक्ति उस उल्लास को उसकी पूर्णता में ग्रहण नहीं कर पाता। किसी भी यात्रा पर पहली बार, अगर किसी अनुभवी व विश्वसनीय व्यक्ति के साथ निकल सकें तो बेहतर है, अन्यथा समय-समय पर सामने आने वाली परेशानियां और ठगी की प्रवृत्ति आपको आसानी से अनुभवी बना ही देंगी। फिर भी, यह हमेशा याद रखें कि घर से बाहर निकलकर आपको, हर बार एक नए अनुभव के लिए तैयार रहना है। आदमी का हर अनुभव, उसकी गलती की कोख से जन्म लेता है। जितनी ज्यादा गलतियां, उतने ज्यादा अनुभव। इस संबंध में एक मुख्य बात यह है कि गलतियां की नहीं जातीं, हो जाती हैं और मूर्ख वह नहीं जो गलतियां करता है बल्कि मूर्ख वह है जो एक ही गलती को दो-बार दोहराता है।

मुन्नार समुद्रतल से 1600 मीटर की ऊंचाई पर स्थित मनोरम पर्वतीय स्थल है। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि आज भारत के, जितने भी पर्वतीय अथवा सागर किनारे के पर्यटन-स्थल हैं, पर्यटन की दृष्टि से उन सबका प्राथमिक विकास व प्रचार विदेशी सैलानियों विशेषतः ब्रिटिश-शासन से जुड़े लोगों के द्वारा किया गया है। भला हो जगद्गुरु आदि शंकराचार्य का, जिन्होंने देश के चारों दिशाओं में धार्मिक-पीठों की स्थापना की और तीर्थों की महत्ता का प्रचार-प्रसार करके आम भारतीय जन को तीर्थयात्रा के बहाने ही सही, कुछ दिनों के लिए अपने घर-परिवार-गांव से बाहर निकलने को प्रेरित किया। तीर्थयात्रा हेतु घर-गांव से निकलना और पर्यटन हेतु घर-गांव से निकलना दो भिन्न प्रकार की मानसिकता रूपी यात्रा है। इन दोनों ही मानसिकताओं में जमीन-आसमान का अंतर है। बेशक, ठगे आप दोनों में ही जाते हैं। तीर्थयात्रा के दौरान पंडों-पुजारियों और मंदिरों के दलालों के रूप में गिद्ध, कौए और कसाई कदम-कदम पर आपको नोचते-काटते हैं। पर्यटन

के दौरान पर्यटन-व्यवसाय से जुड़े एजेंट्स और होटल्स व रेस्टोरेंट्स के कर्मचारी, जिनमें मैनेजर से लेकर सर्विस-व्वाय तक, आपकी बखिया उधेड़ने में लगे होते हैं।

मन्नार में हरे-मुलायम मोटी तह वाले कालीनों-जैसी दूर-दूर तक बिछी चाय के हरे-भरे पौधों की क्यारियों द्वारा चित्रित नयनाभिराम सौंदर्य को देखकर मुझ-जैसे अल्पबुद्धि के मस्तिष्क से तो समूचे काव्य-बिंब, प्रतीक और अलंकार जैसे गायब ही हो गए। रह गया निपट अकेला मैं और मेरे सामने प्रकृति की अलौकिकता को अपनी विस्तृत गोद में बिछाए, पालथी लगाए ध्यानस्थ साध्वी-सी बैठी रमणीय घाटी। इस घाटी को देखने से पहले हरियाली को मैं सिर्फ एक हरे रंग से जानता था, लेकिन हरे रंग के सैकड़ों नहीं हजारों शेड्स होते हैं, इस सत्य से मेरा सामना यहां के अतिरिक्त कहीं और इतनी आसानी से नहीं हो सकता था। एक ही रंग के दस-बीस-तीस शेड्स महिलाओं के ब्लाउज-पेटीकोटों की दुकानों पर एक बार मैंने, तब देखे थे, जब मेरी धर्मपत्नी मीरा ने अपने साथ मुझे कपड़ा-बाजार की दसियों दुकानों में घुमाया था। अपनी किसी साड़ी के कलर से मैच करते ब्लाउज-पीस को तलाश करने के क्रम में। श्रीमतीजी की साड़ी का, वह रंग इतना टिपीकल था कि बिल्कुल-वैसा तो क्या, उसके आसपास के रंग वाला भी ब्लाउज-पीस यहां किसी दुकान में नहीं मिल पाया था। यह घटना यद्यपि पंद्रह-बीस साल पुरानी थी, फिर भी एकाएक याद हो आई और मुझे लगा कि उक्त साड़ी के रंग का हू-ब-हू मैच मीरा को यहां जरूर मिल जाता। बड़े-से-बड़ा कलर-इंजीनियर किसी रंग के अगर हजार शेड्स तैयार कर सकता है तो प्रकृति में उसके दस हजार शेड्स पहले से ही मौजूद हैं, इस सत्य का आभास व्यक्ति को प्रकृति के समीप जाए बिना और उसके सान्निध्य में समय बिताए बिना नहीं हो पाता है। चाय-बागान हमने इससे पहले कभी न देखे हों, ऐसी बात नहीं थी। इसके बावजूद मन्नार के चाय-बागान पहले देखे गए चाय-बागानों से अलग आकर्षण रखते हैं। यह भी हो सकता है कि यह अंतर मौसम की भिन्नता के कारण महसूस हुआ हो और यह भी कि प्रकृति के आकर्षण में बंधने का पागलपन, पहले की तुलना में, अब काफी बढ़ गया हो। यह रोग, मुझ में इस तेजी से बढ़ रहा है कि आने वाले दिनों में मेरा क्या हाल कर डालेगा कौन जानता है?

जहां तक स्थानीय तापमान का सवाल है, मन्नार का तापमान गर्मी के मौसम में 15 से 25-30 डिग्री सेल्सियस तक चढ़ा रहता है जबकि सर्दी के मौसम में गिरकर यह 10 डिग्री से 0 डिग्री तक आ सकता है। दक्षिण भारत की सबसे ऊंची पर्वतीय चोटी अंडमुडि, समुद्रतल से, जिसकी ऊंचाई 2695 मीटर से भी अधिक है, मन्नार क्षेत्र में ही पड़ती है। ट्रेकिंग के शौकीनों के लिए मन्नार-अंडमुडि-राजमल-मीसापुलिमल-टाँप स्टेशन-कुंडल-देवीकुलम आदर्श ट्रेकिंग मार्ग है। मन्नार की एक आश्चर्यजनक विशेषता, यहां की पहाड़ियों और जंगलों में प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होने वाला 'नीलकुरिंजि' नामक फूल है, जो प्रत्येक 12 वर्ष के अंतराल पर इतनी बहुतायत में होता है कि समूचे क्षेत्र की पहाड़ियों को अपने रंग में डूबो देता है। पिछली बार यह प्राकृतिक चमत्कार सन् 2006 में हुआ बताया

हैं। यह सच्चाई है या पर्यटन-व्यवसाय से जुड़े लोगों द्वारा छोड़ा कोई शिगूफा, इसका पता मैं नहीं लगा पाया।

मन्नार केरल के इडुक्कि जिले के अंतर्गत पड़ता है। किन्हीं कण्णन देवन (यह नाम कण्णन दीवान अथवा कानन दीवान भी हो सकता है) जो इन पहाड़ियों के स्वामी थे, के नाम पर मन्नार-क्षेत्र को पहले 'कण्णन देवन हिल्स' के नाम से ही जाना जाता था। आज भी संभवतः टाटा-अधिग्रहीत भरा-पूरा चाय-एस्टेट, चाय-कंपनी, चाय-फैक्टरी और विशाल व्यावसायिक कंप्लेक्स इस क्षेत्र में हैं, जो चाय की अनेक प्रकार की श्रेष्ठ किस्में तैयार करके दुनिया भर को भेजते-बेचते हैं। चाय और कॉफी मन्नार-क्षेत्र की मुख्य फसलें हैं।

मन्नार से पहले, और सच कहूँ तो सबसे पहले, चाय-बागान देखने का सौभाग्य मैंने ऊटी यात्रा के दौरान कुन्नूर की घाटी में पाया था। वे क्षण भी अद्भुत थे, लेकिन वह लगभग सारा ही दूर हमारे टैक्सी-ड्राइवर 'वासु' की बदमिजाजियों और मेरे दामाद विपिन के साथ, उसके असंतुलित व्यवहार की भेंट चढ़ गया था। हमारी सबसे पहली मूर्खता तो यह रही कि ऊटी-भ्रमण पर हम ऊटी और आसपास के भ्रमण-योग्य स्थानों के बारे में जाने-पढ़े बिना ही निकल गए थे। उसका दंड, हमें यह भुगतना पड़ा कि पूरी धनराशि और समय खर्च करने के बावजूद हम आधा-अधूरा भी ठीक-से नहीं घूम पाए। अगर बिना पूर्व-अध्ययन के भ्रमण पर निकलेंगे तो आश्चर्य नहीं कि आप अनेक, ऐसे स्थानों पर जाने से चूक जाएं जो अनेक दृष्टि से दर्शनीय अथवा भ्रमणीय होते हैं और, जहां पर न जा पाना आपको उम्र भर सालता रह सकता है। भ्रमण और फोटोग्राफी के शौकीन व्यक्ति को कुछ बातें हमेशा गांठ में बांधे रखनी चाहिए। पहली यह कि भले ही एक दिन फालतू रुकना पड़े, जिस स्थान पर हैं उसको पूरा घूमने का प्रयत्न करें और बाद के लिए कुछ न छोड़ें। दोबारा आ पाना मुश्किल ही नहीं, असंभव मानकर चलना चाहिए। यही बात फोटोग्राफी के शौकीनों पर भी लागू होती है। जो दृश्य कैमरे में कैद करने योग्य लग रहा हो, उसे बाद के लिए, लौटकर आते समय ले लेने के लिए नहीं छोड़ना चाहिए। ऐसा उसी दशा में करना चाहिए, जब पर्याप्त प्रकाश-व्यवस्था आदि न होने के कारण फोटो लेने के लिए अनुपयुक्त स्थिति की बाध्यता सामने हो। अन्यथा, अगर आप अपनी गाड़ी में हैं तो गाड़ी को किनारे लगवाकर भी फोटो लेने से नहीं चूकना चाहिए। मन को भा जाने वाले, दिमाग से चिपक जाने वाले नयनाभिराम दृश्य हमेशा नहीं बने रहते। जहां तक प्राकृतिक स्रोतों व दृश्यों के फिल्मों का सवाल है, वहां तो कोई फोटोग्राफर दिन भर भी फोटोग्राफी करता रहे तो वह भी कम पड़ सकता है।

केवल हरा रंग और उसके शेड्स ही मन्नार में देखने को मिलते हों, ऐसा नहीं है। सूरजमुखी के पुष्पों को जंगली झाड़ियों की तरह नदी के किनारे-किनारे दूर तक जाते, हँसते-खिलखिलाते सबसे पहले हमने मन्नार में ही देखा। अपने मैदानी इलाकों में तो सूरजमुखी की व्यावसायिक-स्तर पर खेती की जाती है, उस पर पसीना बहाया जाता है,

पैसा कमाया जाता है। जिस समय हमने प्रवेश किया, मन्नार की पूरी घाटी उस समय रिमझिम जल बरसाते मेघों से आच्छादित थी। हमने पाया कि उस समय वहां कल-कल कहता-बहता निर्मल जल था और सूरज की झलक पाने को बेताब, मुख आसमान की ओर उठाए अनगिनत सूर्यपुष्प थे नहीं थे तो केवल सूरज देवता नहीं थे। अपने इष्ट का अथवा अपने प्रिय का दर्शन पाने की प्रतीक्षा में एकटक निहारते हुए न केवल पूरा दिन निकल जाए बल्कि सांझ भी घिर आए तो अच्छे-से-अच्छे धैर्यवान का धीरज पलायन कर सकता है। घाटी-भर के सारे सूरजमुखी संध्याकाल में अपनी-अपनी गरदन झुकाकर आसपास के पेड़ों से, पौधों से, घास के तिनकों से, पत्थरों से, कीड़ों से, मकोड़ों से, नदी से, झरनों से, अपने निकटवर्ती हर जड़-जंगम से जैसे अपना रोना रोने लगते हैं कि देवता ने आज भी दर्शन नहीं दिए, देख लो। सोने के हिरन को मारकर पंचवटी की अपनी कुटी में लौटे राम सीता को वहां न पाकर जैसे हकबका गए थे, सूरज का दर्शन न पाकर सूरजमुखी के पुष्प मन्नार-घाटी में हर शाम वैसे ही हकबकाए-से नजर आते हैं। खग को, मृग को, मधुकर को उस दंडकारण्य में उस समय कौन ऐसा था, सीता के अपहरण की आशंका से त्रस्त राम ने जिसे संबोधित न किया हो- हे खग, हे मृग, हे मधुकर श्रेणी, तुम देखी क्या सीता मृगनयनी? हताश-निराश सूरजमुखी के ये पुष्प भी लगभग वैसे ही अंदाज में अपने आसपास की वस्तुओं से शिकायत करते से महसूस होते हैं। कल-कल बहती नदी इन पुष्पों को आश्वासन देती है कि कल-कल यानी कल उनके आराध्य का दर्शन-लाभ, उन्हें अवश्य मिलेगा। उसके आश्वासन से अभिभूत सूर्यमुखी पुष्प मुरझाते नहीं हैं, बल्कि आगामी सुबह पुनः अपने आराध्य के दर्शनों हेतु आसमान की ओर ताकने लगते हैं। उन्हें हर दिन निराश और हताश ही हो जाना पड़ता हो, ऐसा नहीं है। घने बादलों के बीच से सूर्यदेव उन्हें कभी झलक दिखलाकर आनंदित करते हैं तो, कभी भरपूर धूप में नहला देने का सुख प्रदान करते हैं। एक विशेष प्रकार के वृक्ष, जिसका मैं नाम नहीं जानता और न ही वहां पर कोई, उसका नाम मुझे समझा पाया, रक्तवर्णी पुष्पों से लदे थे। मोटे-मोटे सेम्हल-जैसे रक्तवर्णी पुष्पों से। नीचे कमनीय काया वाली किसी अप्सरा के लहराते आंचल-सी चंचला-नदी। किनारे पर यहां से वहां तक पीले फूलों और हरे पत्तों वाले सूरजमुखी के पौधों की श्रृंखला और उनके बीच में यहां-वहां रक्तवर्णी पुष्पों से अपने-आप को शीर्ष तक ढके खड़े वे वृक्ष। मुझे लगता है कि अपने चित्रकूट निवास के दिनों में कुछ, ऐसे ही दृश्य से अभिभूत भगवान श्रीराम ने सीता से कहा था 'सीते! यद्यपि मैं राज्य से निकाल दिया गया हूं तथा मुझे अपने हितैषी स्वजनों से विलग होकर रहना पड़ रहा है, फिर भी जब मैं इस रमणीय पर्वत की ओर देखता हूं तो मेरा सारा दुख दूर हो जाता है। गुफाओं से निकली हुई वायु नाना प्रकार के पुष्पों की प्रचुर गंध लेकर नासिका को तृप्त करती हुई किस पुरुष के पास आकर, उसका हर्ष नहीं बढ़ा रही है। यदि तुम्हारे और लक्ष्मण के साथ मैं यहां अनेक वर्षों तक रहूं तो भी नगर-त्याग का शोक मुझे कभी नहीं होगा।'

आग्नेय की कविताएं

अनश्वर भूख

कहा जाता है
नर्क में ऐसी भूख लगती है
कितना भी खाओ
भूख किसी की मिटती नहीं
यहां हमारी पृथ्वी पर
ऐसा ही हो रहा है
पृथ्वी में भूख एक नहीं है
यहां सब कुछ
भूख में बदल चुका है
नर्क के अतिरिक्त
हमारा ग्रह है
जहां किसी को भूख मिटती नहीं

पंजे

सबकी गर्दनों पर पकड़ है पंजे की
मेरी गर्दन पर पकड़ है दूसरे की
इस दूसरे की गर्दन पर पकड़ है तीसरे की
इस तीसरे की गर्दन पर पकड़ है चौथे की
इस तरह अनगिनत गर्दनें हैं उन पर

अनगिनत पकड़े हैं अनगिनत पंजों की
हम जो करते हैं वह सब दर्ज है किसी किताब में
दर्ज है
हमारा प्रेम, हमारी करुणा, हमारी कृपा
हमारी घृणा, हमारा तिरस्कार, हमारी हत्याएं
सब दर्ज हैं हर पल उसमें
थोड़ी देर के लिए भी उसे खाली नहीं रखा जाता।

हिज्जे

सारा जीवन
हिज्जे की गलती नहीं थी
जिसे सुधार लेता
सारा जीवन
स्वयं गलती थी
एक गलती से दूसरे गलती को
कैसे सुधार लेता
इस तरह सारा जीवन
हिज्जे की गलती लेकर
जीना पड़ा।

स्टिल लाइफ

वैसे वह घर का सबसे पुराना पंखा था
वह घर-घर की आवाज करता था
उसमें अपना दुपट्टा बांधकर उस घर की लड़की
लटक गई
उसने इस काम में, उस स्टूल से सहायता ली
जिस पर बैठकर वह धूप में अक्सर
अपने गीले बाल सुखाती थी
वह आत्महत्या करने में सफल रही

वैसे वह हर काम में असफल थी
घरर-घरर की आवाज करता
उस घर का पंखा अब भी चलता है
स्टूल अब भी बैठने के काम में आता है
उस पर चढ़कर ऊंचाई तक पहुंचा जा सकता है
उस लड़की के दुपट्टे का क्या हुआ?
उसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता
जो कुछ कहा जा सकता है वह
उस लड़की के बारे में कहा जा सकता है
वह लड़की उस घर में अब नहीं रहती

भूल जाएंगे यह लिखना

इतिहास में
जब तुम्हारे बारे में लिखा जाए
इतना ही नहीं लिखा जाए
तुमने किस पर कितने उपकार किए
तुम किसी के दुःख पर कितना रोए
तुम किसी के प्रेम के लिए कितना बिलखे
तुमने अपनी मित्रता के लिए
अपने हृदय का एक टुकड़ा त्यागा
इतिहास में
जब तुम्हारे बारे में लिखा जाए
इतना ही नहीं लिखा जाए
तुम जो भी करते रहे
तुम जो भी कहते रहे
सबने उसे सुना
चले भी उस पथ पर
जो तुमने निर्देशित किया
उन कागजों पर अपने शब्द लिखे
जिनको तुमने संपादित किया
यह सब लिखा जाएगा इतिहास में

तुम्हारे बारे में
भूल जाएंगे इतिहासकार
यह लिखना
तुमने कितनी हत्याएं कीं
जब तुम प्रेम कर रहे थे किसी को
भूल जाएंगे इतिहासकार
यह लिखना
तुम्हारे करुणा से भरे हृदय में
कितनी पिपासाएं धधक रही थी
भूल जाएंगे इतिहासकार
यह लिखना
जब तुम किसी पर उपकार कर रहे थे
तुम प्रतिशोध से कितने तड़प रहे थे
भूल जाएंगे इतिहासकार
यह लिखना
तुम एक लेखक थे
तुमने किसी के साथ न्याय नहीं किया
भूल जाएंगे इतिहासकार
यह लिखना
सत्ता होती यदि तुम्हारे पास
तुम क्या होते?

उमेश चौहान की कविताएं

सूर्यघड़ी

बड़े जोश में आते हैं
तरह-तरह के लोग
देश के कोने-कोने से
भांति-भांति के बैनर व तख्तियां थामे,
विस्थापित कश्मीरी पंडित
अधिकारों से वंचित आदिवासी
घर से उजड़े नर्मदा घाटी के निवासी
भूखे-प्यासे मजदूर-किसान
जंतर-मंतर के इस मोड़ पर
अपनी-अपनी मांगें पूरी कराने के लिए धरना-प्रदर्शन करने

लेकिन यहां से गूंजते नारों की आवाज
नहीं पहुंचती प्रायः पास में ही स्थित संसद-भवन के गलियारों तक
या फिर शायद सुन कर भी इन आवाजों को
अनसुनी कर देने की ही ठाने रहते हैं
भारत के भाग्य-विधाता,
ये बेचारे जन-गण
अपने मन को मसोसकर रह जाते हैं
'जय हे' की ड्रम-बीट पर तने खड़े जवानों से डरकर
इस आशा में अपने आक्रोश को जब्त करते हुए कि
उनके अधिनायकों का बहरापन कभी तो खत्म होगा ही

जंतर-मंतर की सूर्यघड़ी
नित्य साक्षी बनती है
समय के उन पड़ावों की
जहां पर तख्तियों और बैनरों पर लटकी होती हैं
उस समय के तमाम सताए हुए लोगों की उम्मीदें और विश्वास,
लेकिन भारत के भाग्य-विधाताओं की तरह ही
यह सूर्यघड़ी भी दिन के किसी भी पहर नहीं थमती
समय के किसी भी ऐसे पड़ाव पर सहानुभूति से भर कर,
भले ही शहर में कितनी भी दहला देने वाली वाली कोई दुर्घटना घटित
हो
जिसमें सहम कर थम जाएं
बाकी की सभी कलाई अथवा दीवार की घड़ियां

अगर देश के कोने-कोने से आने वाले लोगों को
दुनिया का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए
थाम लेना है जंतर-मंतर की सूर्यघड़ी को
समय के किसी भी महत्वपूर्ण पड़ाव पर
तो या तो उन्हें अपनी मुट्ठियों में जकड़ लेना होगा लपककर सूर्य के
रथ को
या फिर इंतजार करना होगा सूरज के डूब जाने का
क्योंकि अंधेरे में जरूर थम जाती है यह सूर्यघड़ी
और फिर चालू होती है नए सिरे से
पुनः सूर्योदय होने पर
एक नए दिन की शुरुआत होने के साथ ही।

प्रतिरोध

घुप्प अंधेरा था
सूझता नहीं था हाथ को हाथ,
फिर भी धंसाता रहा वह
पैनी नोंक वाला खंजर
बड़ी ही सावधानी से
ठीक मेरे सीने के बीच,

दिखता नहीं था मुझे
बहता हुआ रक्त भी अपना,
पीता रहा इसे वह शान से रेड वाइन सा,
साम्राज्य था उसका टिका
इस तमाधिष्ठित शल्य-क्रीड़ा के सहारे

किंतु आखिर दर्द ने मुझको झिंझोड़ा
वक्त ने करवट बदल ली,
लगा, दस्तक दी सुबह ने
रोशनी की किरण फूटी,
देख खुद को रक्त-रंजित
घाव की पीड़ा भुलाकर
तन गया प्रतिरोध में मैं
भर गया प्रतिशोध से मैं,
कांपते अब हाथ उसके
चूकता उसका निशाना हाथ में
थामे हुए खूंखार खंजर
वह उजाले में खड़ा नंगा दिखे अब

मैं निडर हो, बढ़ चला हूँ
अब नए संघर्ष-पथ पर,
निहत्थे ही,
सामने निष्प्रभ खड़ा वह
देखता आश्चर्य से भर
हौंसला मेरा निराला

ढह रहा प्रासाद उसका
भरभराकर ध्वस्त होता
क्योंकि उसकी नींव का पत्थर बना मैं
आज सहसा खिसक आया हूँ वहां से
खुद स्वयं की नींव बनने,
वक्त मुट्ठी में दबोचे, ढेर सी हिम्मत जुटाकर।

फुटबाल का खेल

मैदान में फुटबाल का खेल चल रहा था
पिछली प्रतियोगिता की विजेता टीम के अजब रंग-ढंग थे
उसके सारे खिलाड़ी हर समय कप्तान से अलग ही दिशा में दौड़ रहे थे
वे खेलते समय केले खाने के शौकीन लगते थे
उन्होंने खेलते समय केलों की सप्लाई बनाए रखने के लिए
मैदान की बाउंडरी के साथ-साथ अपने गुर्गे बैठा रखे थे
वे केले खा-खाकर गेंद के साथ आगे की ओर भागते समय
छिलके कप्तान की तरफ फेंकते जा रहे थे
कप्तान उन छिलकों पर फिसल-फिसलकर भागता हुआ हमेशा पीछे-पीछे
ही दौड़ रहा था
ऐसे में गोल करना तो दूर, टीम का पूरे समय मैदान में डटे रहना ही
मुश्किल था
कप्तान को टीम के प्रतियोगिता से बाहर हो जाने की चिंता सता रही थी
टीम-प्रबंधन यह तय नहीं कर पा रहा था कि
टीम का प्रदर्शन सुधारने के लिए कप्तान को बदला जाए या खिलाड़ियों
को,
दर्शकों के शोर-शराबे व आक्रोश के बीच
मैदान धीरे-धीरे आकार बदलकर भारत के नक्शे में तब्दील होता जा
रहा था और
प्रतियोगिता के परिणाम अब उस टीम से कहीं ज्यादा देश के लिए
महत्वपूर्ण होते जा रहे थे।

शिकारगाहों में तब्दील गांव

मेरे देखते ही देखते
पिछले पचास सालों में
एक अजीब सी शिकारगाह बन गया है हमारा गांव
और हमारा ही गांव क्यों
शायद ऐसी ही एक शिकारगाह में तब्दील हो चुके हैं
इस देश के कोने-कोने के तमाम बड़े-छोटे गांव

पहले आया वन-नशीकरण
फिर संरक्षण का वीरप्पन
मंडलीकरण सबको भाया
लूटा जिसने जो कुछ पाया

फिर भूमंडलीकरण आया
सस्ते में सबको निपटाया
शहरों में माल खुले ऊंचे
गांवों में ई-चौपाल खुलीं
चीनी बैटरी, दिए, झालर,
पिचकारी, कपड़े, मोबाइल फोन
गांवों के नुक्कड़ तक छाए
यह भी है कितनी अजब बात
बहुराष्ट्रीय भारत आए
भारत वाले विदेश भागे
उत्पादन में संकट छाया

अब विकृतीकरण समाया है
जिसकी मर्जी जो कुछ नोचे
जीवन या मौत खुला बेंचे
मिट्टी, बालू, मौरंग, पत्थर
खोदें सपूत ही गांवों के
बिजली, कोयला, तैदू-पत्ता
सबकी चोरी अब जायज है

सिर कटे गाँव, ये लुटे गांव
जातीय तौर पर बंटे गांव
छाती नुचवाए, ठगे गांव
भू-स्वत्व लुटाए, बिके गांव
हिंसा-प्रतिहिंसा में लिथड़े
थाने के द्वारे टिके गांव
प्रतिबंधित दारू-द्रव्य-दवा में लिस
जवानी-छिने गांव,
इन विकृतियों से मुक्ति कहां

इन पर किसका है ध्यान यहां
सब तो अपने में मुखिया हैं
रोकें जो वे परधान कहां?

वन-नशीकरण या संरक्षण
मंडलीकरण या जातिवाद
हिंदुत्ववाद या सेक्युलरिज्म
वैश्वीकृत अर्थ-व्यवस्था या
बहुराष्ट्रीय कंपनियों को
किस-किस को कोसा जाए आज
अब तो हम अपने ही दुश्मन
सब अपनी ही मजबूरी है
अपने ही तरकस-तीर यहां
अपनों की जेब में छूरी है
सब धार किए पैनी बैठे
देखें आगे क्या होता है?

पिछले पचास वर्षों से गांव
निशाने पर रहा है सदा बाहरी शिकारियों के
लेकिन अब तो गांव के भीतर ही कितने सारे निशानेबाज हैं
बलिहारी इन निशानेबाजों की,
अब कोई भी शिकार बचा ही नहीं रह सकता
घर के ही शिकारियों से पटे गांवों की इन शिकारगाहों में।

रोको उसे

नौ महीनों तक संभाला हो जिसे
मां ने गर्भाशय में
सोते समय भी
सजग रह कर करवटें बदलते हुए,
बूंद-बूंद रक्त से करके पोषण
जना हो जिसे इस धरती पर
सहते हुए इस दुनिया की

सबसे असह्य बताई जाने वाली पीड़ा,
पाला-पोसा हो परिजनों ने जिसे
बाज़ुओं में ताकत आ जाने तक
अपनी सामर्थ्य भर,
कैसे भुला दिया आज उस युवक ने
इस समूचे त्याग के इतिहास को?
बेवक्त ही ठान ली उसने
जाने की इस दुनिया से
निर्जीव कर मां की वात्सल्य-भरी
इस सबसे सरस उत्पत्ति को
अरे! रोको उसे!

क्यों पीता जा रहा वह हलाहल दिन-रात?
क्यों उड़ाता जा रहा वह
तंबाकू, चरस, गांजे के धुंए की गंध में
जीवन के अनमोल अहसास?
क्यों खाए जा रहा वह
एक के बाद एक
स्नायु-तंत्र को निश्चेत बना देने वाली नशीली दवाएं?
क्यों दागने जा रहा वह
अपनी आंखें बंदकर
कनपटी पर बारूदी गोलियां?
क्यों लपककर कूदने जा रहा वह
नदी के पुल पर से गुजरती सरपट दौड़ती ट्रेन से?
अरे! कोई तो रोको उस बेचारे को!

उसे अवसाद से मुक्ति दिलाने के लिए
कुछ तो करो!

कम से कम उसके इस कृत्य से
मां की आत्मा को होने वाली
पीड़ा का अहसास तो दिलाओ उसे!

रमणिका गुप्ता की कविताएं

मैं हवा को पढ़ना चाहती हूँ

1.

'जरा कलम देना' मैंने समय से कहा
'मैं हवा को लिखना चाहता हूँ'
कि धीरे से मेरी तरफ
एक सरकंडा सरक आया
मैंने भागती हवा से कहा
'पकड़ो ये सरकंडा और लिखो
हवा-जो रेगिस्तान के टीलों को उठाकर
एक जगह से रख देती है दूसरी जगह
ने लिखा-
'उजड़ने का अर्थ!'

2.

'तनि किताब देना'
मैंने समय से कहा-
'मैं हवा को पढ़ना चाहती हूँ'
कि धीरे से मेरी तरफ
एक बंजर मरुस्थल खिसक आया
मैंने घिरनी-सी चक्कर खाती हवा से कहा
'लो ये किताब और पढ़ो'
हवा ने
जो उलटने-पलटने में माहिर
सरसराकर पलट दिए किताब के बरक
और सनसनाती आवाज में पढ़ दिया
'बंजर होने का अर्थ'

और उड़ा ले गई बालू का टीला....
अपने संग!

3.

‘तनि दिशा देना’
मैंने समय से कहा
‘मैं हवा का रुख मोड़ना चाहती हूँ’
कि धीरे से उसने मेरी तरफ
झुका-झुका क्षितिज घुमा दिया
और बोला
‘लो मोड़ो’!

हवा
जो मुड़ने की अभ्यस्त
घूम गई बबंडर-सी
और आंधी बनकर जा घुसी
आकाश की आंख में
धुंधला गई दिशाएं
और मैं रास्ता भूल गई!

4.

मैंने उड़ती हुई हवा से कहा
‘तनि रुको और सुनो
अपने प्राणों में बंधी घंटियों की ध्वनि
जो पैदा करती हैं हर झोंके के साथ
एक नया गीत जिंदगी का
रुको कि अभी शेष है जिंदगी की
जिजीविषा प्राण और सांस
शेष है धरती, आकाश और क्षितिज!’
और हवा लौट आई
श्वांस बनकर और
धड़कने लगी
मेरे दिल में....!

5.

मैंने इधर
पढ़ ली है हवा की फितरत
बहना और बहना
उड़ना बस उड़ना
कहीं न टिकना
है उसकी आदत
और मैं भी बहने लगी
उड़ने लगी....!

6.

मैंने सरकंडे की कलम बनाई
मरुस्थल की किताब का बरक खोला
क्षितिज का रुख अपनी तरफ मोड़ा
और चल दी सूरज के रास्ते
समय मेरे संग चल रहा था!

मैंने हवा से कहा

मैंने हवा से कहा
रुको
मैं तुम्हें पढ़ना चाहती हूँ
हवा ने कहा
मैं रुक गई तो
तुम भी रुक जाओगी
फिर पढ़ेगा कौन?

मैंने समय से कहा
जरा रुको
मुझे हवा को पढ़ने दो
समय ने कहा
मैं रुक गया
तो कहां दर्ज करोगी
पढ़ा हुआ?

मैंने खुद से कहा
चलो समय की दीवारें उलांघ जाएं
कोई बोला
तुम ही तो समय हो
जब तक तुम हो
समय रहेगा ही
तुमसे समय है...
तुम तक समय है....
इसके बाद.....?

मैंने खुद से कहा
हवा से साथ उड़ो
और बढ़ो
कोई बोला
हवा भी रुख पलटती है
उलटी बहती है
क्या पीछे की ओर
दौड़ोगी?
मैं चुप थी...क्या करूं?

कोई बोला
होड़ मत लगाओ
बस रुको मत
चलो....चलो....चलो
समय तुम्हारे पीछे दौड़ेगा
और हवा आगे-आगे?
हवा फुसफुसाई
'मैं इंतजार नहीं करती'
समय बड़बड़ाया
'मैं खड़ा नहीं रहता'
मेरे अंतस में ध्वनि बोली
कोई किसी के लिए
कब रुका है?
बस चलो.... बहो...उड़ें...।

जड़ें हवा की

हवा की भी जड़ें होती हैं
या कहें
धरती और आकाश के अंतराल में फैले
शून्य में
हवा जब बवंडर बन उड़ती है
तो धरती का कण-कण
साथ उड़ने लगता है
मचलने लगता है आकाश
हवा की आंखें धुंधिया जाती हैं
हवा रुकती नहीं
उसकी जड़ें बहती हैं उसके साथ
जहां जाती है वह
अपनी जड़ें साथ ले जाती है
इसलिए हवा
कभी रुकती नहीं
कभी मरती नहीं
जड़ों से जुड़ी-जुड़ी
बहती है
अपने से ही अपने को
जन्मती....।

शशि नारायण स्वाधीन की कविताएं

लाचार आदमी

वो अंधा आदमी है
टांगें भी है उसकी कुछ जख्मी
वो अपना हाथ दंगों में
गंवा आया है मुंबई में
अक्सर राह चलते पूछता हूँ
जब भी उस का हाल
उस के जेहन के गोशे में बम फटने लगते हैं
वो अपने जख्मी चेहरे को दिखाता
बोल पड़ता है
कि मैं दूँढता तो बहुत हूँ
कोई काम नहीं मिलता
इस उम्र में भी मुझ को
अब आराम नहीं मिलता
मैं भूखा हूँ कई दिन से
रखा कश्लोल¹ खाली है।
हरेक शख्स मुझे देख कर
यूं ही गुजर जाता
ये कश्लोल नहीं,
कोई जख्म होता तो भी भर जाता

¹ भिक्षा पात्र

गुजरात में रात

उजाले दूर है मुझ से
अभी यह रात बाकी है।
चिरागों की लवें भी कांपती हैं
तेज हवाएं हैं।
किरण उजली सी कोई खोई हुई
धरती पे उतरेगी
मेरे इस हाथ से तेरी
नई तस्वीर संवरेगी
अभी तो दूर है सूरज
मगर उसकी खबर रखना
सुना है रात में अक्सर
कोई ख्वाबों में आता है
अंधेरे देके वो अपने
उजाले छीन ले जाता है।

पहले और अब

पहले बची रहती थी यात्राओं की तिथियां
संस्थाओं में वार्ता की वीथियां बची रहती थी
घरों में बची होती थीं
सांझे चूल्हों की दुनिया
आंगन में आसमान और
चौखट में दिनमान बचे रहते थे
चरवाहों की दोपहरें
शामें तालाबों के पास
पहाड़ों की गोद में चांद वाली रातें
कविता में प्रेम की जगह
जिंदगी की इबारतें जिंदगी में बची रहती थी
कठिन दिनों के लिए
अनाज बचा रहता था
दरवाजे के पास घास

घौसलों में डैनों वाले पक्षी
बरामदे में पेड़ों की छाया बची रहती थी
आंखों में बची रहती थी लंबी बारिशें
हमें भिगोने के लिए और
घर के रास्ते में
गलियां शहर में हर ओर
अब जिधर-जिधर से गुजर रहा है जीवन
पांवों के नीचे से
खिसकती जा रही है जमीन
शुरू हो रही है उपर से पानी की दुनिया
किसी तरह हमने बचाए रखी है
पानी में पृथ्वी
पृथ्वी पर बचाए रखा है घरों को
इंसानों को बचाए रखा है युद्धों से
अभी तक बचा हुआ है
धरती में नमक
और शरीर में मेहनत के पसीने का स्वाद।

फरेब

जब अपनी कांपती उंगली से मैंने
वोटिंग मशीन के बटन को दबाया
संग्रहित होते चले गए
एक के बाद एक अनेक मत
इच्छाओं के संहारक
उम्मीदवार के पक्ष में
सूचना क्रांति के इस फरेब से
परिचित कराने पर
पिघलती सड़कों पर मुझे पकड़ने
भाग रहे थे गुंडे
नंगे पांवों के निशान
छूट गए थे मुख्यमंत्री के गांव में
जहां से लौटकर कुछ दिन पहले

बेरोजगार भाई ने
कर ली थी आत्महत्या
भूख से लड़ते हुए हम
पेट के बल घिसटते हुए चल रहे हैं
यह देखते हुए अभिशप्त
कि शाम का कुबड़ा सूरज टुलक रहा है
जला दी गई है सिंगरेनी की झोपड़ियां
नये परिवर्तन की स्वप्न-राख
मैदानों में उड़ रही है
भू स्वामियों की आग और हवा के खेल में
पसीने की पूरी दुनिया खत्म हो गई है।

आदमी का समय

संसद में शून्यकाल की तरह का
नहीं है यह खाली समय
यह आम आदमी का खाली समय है
सुलगता हुआ
कि इसमें बेरोजगारी के पेड़ों की फुनगियों पर
दुबके लोग
भूख से जलता हुआ शहर देख रहे हैं
लोगों के डाब जैसे पेट उठ गिर रहे हैं खला में
आठ दिनों से थकी चली आ रही
सांसों की डोर से उखड़ते इस वक्त की
हलक में कुछ टपक रही हैं बूंदें
और मरते हुए आदमी की आखिरी सांस
पानी में भीग चुकी है
इस आम आदमी के खाली समय को
इस बीमारी और भूख को
मौत और उसे दगा देने की तरकीबों को
ईश्वर ने नहीं
खुद आदमी ने आबाद किया है

उस आदमी ने
सारी डोरियाँ जिस की ऊंगलियों पर
मचलती हैं
किसी और के इशारे पर
कारखानों पर तालाबंदी
कंपलसरी रिटायरमेंट
और चहुंमुख अंधेरा फैलाने के लिए
पहले काट दिए उसने
बिजली के तार
फिर विरोध में उठे हाथ को
अपने जबड़ों में दबोच कर
चबा गया कड़र-कड़र।
आम आदमी का खाली समय
अब
बाढ़ के पानी से घिर चुका है।
फिर
बाढ़ से जी उठेंगे कुछ लोग
जश्न होंगे
जबड़ों की कड़र-कड़र तेज होगी
और भी
लेकिन मौत मिलेगी उस आदमी को
चबाया जा चुका
जो पड़ा है आधा-अधूरा
पस्तहाल
लेकिन इस भयावह समय में भी
दबी-बची सुलग रही है अब भी कुछ आवाजें
भूख के खिलाफ पृथ्वी पर
अंधेरे से लड़ने वाले आदमी का है
यह समय
कोयले की भूरी राख के बीच
आग की तरह
सुलगते हुए आदमी का समय।

रामविलासजी की 'स्क्रेप बुक्स'-2

विजय मोहन शर्मा

पाठकों के लिए 'बहुवचनअंक 33-34 से स्क्रेप बुक्स शीर्षक के अंतर्गत एक नई लेख-माला आरंभ की है, जिसकी पहली किश्त में आपने 'हॉकी के जादूगर' मेजर ध्यानचंद के बारे में पढ़ा था। अब इस अंक में उन्नीसवीं सदी की जर्मनी के एक प्रसिद्ध कवि हायनरिख हाइने के बारे में पढ़िए:

क्रिश्चियन जोहान हायनरिख हाइने (13 दिसंबर, 1797-17 फरवरी, 1856) एक पत्रकार, निबंध लेखक और साहित्यिक आलोचक तो थे ही, वह उन्नीसवीं सदी के सबसे महत्वपूर्ण कवियों में से थे। उन्हें जाना जाता है, उनकी गेय कविताओं के लिए, जिन्हें प्रसिद्ध संगीतज्ञों ने सुरों से सजाया।

इन संगीतज्ञों में रौबर्ट शूमन, एफ. मेंडलेसन, फ्रांज शूबर्ट और फ्रैंडरिक सिलचर जैसी मशहूर हस्तियां थीं। हाइने के व्यक्तित्व में एक खिलंदड़ापन था, वह दुखती रग पर चोट करने से नहीं कतराते थे इसलिए, उनके गीतों में व्यंग्य और हास्य का ऐसा पुट है, जिसे किसी का उपहास करने के लिए प्रयोग किया जाता है।

हाइने की दो-टूक बातों और निरंकुश-सत्ता विरोधी लेखों के कारण उनकी अनेक पुस्तकों पर जर्मन सरकार ने प्रतिबंध लगा दिया था। हाइने ने अपने जीवन के अंतिम पच्चीस वर्ष पेरिस में एक प्रवासी के रूप में रहकर बिताए।

हाइने का जन्म 13 दिसंबर, 1797 को डंसलडॉर्फ (जर्मनी) के एक साधारण यहूदी परिवार में हुआ था। बचपन में उन्हें 'हैरी' नाम से पुकारा जाता था लेकिन सन्

1825 में विधिवत 'बपतिस्मा' (नामकरण-संस्कार) हो जाने के बाद, वह हायनरिख कहलाने लगे।

उनके पिता कपड़ों के एक व्यापारी थे जबकि मां पढ़े-लिखे परिवार से थीं (वह एक चिकित्सक की बेटी थीं)। चार बच्चों में हाइनरिख सबसे बड़े थे।

उन दिनों का डेंसलडौर्फ एक छोटा सा शहर था, जिसकी आबादी लगभग 16,000 थी। हायनरिख के बचपन के दिनों में पड़ोसी देश फ्रांस में बड़ी राजनीतिक उथल-पुथल हो रही थी-पहले फ्रेंच रेवोल्यूशन और फिर नैपोलियन द्वारा साम्राज्य का विस्तार और युद्ध। नैपोलियन ने इस क्षेत्र को बड़ी महत्ता प्रदान की थी और वह स्वयं इसके प्रशासन संबंधी कार्यों को देखता था। सन् 1806 में नैपोलियन के पतन के बाद यह क्षेत्र 'एशिया' का हिस्सा बन गया। इस प्रकार बचपन से लेकर बड़े होने तक हायनरिख हाइने पर फ्रांसीसी प्रभाव बना रहा।

हायनरिख हाइने नैपोलियन द्वारा शुरू किए गए तौर-तरीकों के बड़े प्रशंसक थे, खासतौर से न्याय प्रक्रिया में जूरी द्वारा सुनवाई करवाए जाने के। वह फ्रांसीसी शासन की कमजोरियों के बारे में भी सोचते थे, जैसे भारी कर लगाने और यूरोप की नाकेबंदी करने से उत्पन्न वित्तीय संकट के बारे में। लेकिन वह नैपोलियन के 'व्यक्तिगत स्वतंत्रता' और 'समानता' के क्रांतिकारी विचारों की बहुत तारीफ करते थे और नैपोलियन की हार के बाद, मेटरनिख के ऑस्ट्रिया के चांसलर बन जाने पर, जर्मनी में उत्पन्न हुए राजनीतिक वातावरण की भर्त्सना करते थे।

हायनरिख हाइने के माता-पिता कट्टर यहूदी नहीं थे, उन्होंने आरंभ में तो हायनरिख को एक यहूदी स्कूल में भेजा था, जहां उन्होंने थोड़ी-बहुत हेब्रू भाषा भी सीखी थी, लेकिन उसके बाद वह कैथोलिक स्कूलों में पढ़े जहां उन्होंने फ्रेंच सीखी जो आगे चलकर वस्तुतः उनकी दूसरी भाषा बन गई। यह दूसरी बात है कि सारी उम्र वह जर्मन 'एक्सेंट' (उच्चारण) से ही फ्रेंच बोलते रहे। उनका राइनलैंड के लोक-जीवन से लगाव भी जीवन पर्यंत बना रहा। स्मरणीय है कि डेंसलडौर्फ 'राइनलैंड' का ही एक हिस्सा था।

सन् 1814 में हायनरिख को डेंसलडौर्फ के एक बिजनेस स्कूल में पढ़ने के लिए भेजा गया, जहां उन्हें अंग्रेजी पढ़ाई गई, जो उस समय के व्यापार की भाषा बन चुकी थी। हायनरिख के परिवार में सबसे समृद्ध उनके चाचा 'सोलोमन' थे। वह हैमबर्ग में एक करोड़पति बैंकर थे। परिवार में उनकी चलती थी और तमाम जरूरी निर्णय उनकी सलाह से लिए जाते थे।

सन् 1896 में, चाचा ने हायनरिख को अपने पास हैमबर्ग बुलवा लिया और अपने बैंक में नौकरी लगवा दी लेकिन हायनरिख का मन न लगता था। सच कहा जाए तो हैमबर्ग के व्यापारिक माहौल से वह नफरत करते थे, यहां उनका दम घुटता था। फिर भी, पेरिस के बाद, हैमबर्ग उनके जीवन और लेखन का केंद्र बना रहा।

पिता के व्यापार में घाटा होने पर, हायनरिख के चाचा पूरी तरह से उसके संरक्षक बन गए। व्यापार में कोई रुचि न लेते देखकर, उन्होंने हायनरिख को 'बिजनेस' स्कूल से निकालकर 'कानून' पढ़ाने का फैसला किया। लिहाजा, सन् 1819 में हायनरिख बॉन विश्वविद्यालय (जो उस समय 'प्रशिया' में था) में भर्ती हुए। बॉन विश्वविद्यालय में उस समय कट्टरपंथी अधिकारियों के विरुद्ध उदारपंथी छात्रों का जबर्दस्त संघर्ष छिड़ा हुआ था। विश्वविद्यालय में दाखिल होने के बाद हायनरिख का पहला काम यह था कि उदारवादी राजनीतिक गतिविधियों को कुचलने के लिए मैटरनिख ने जो आज्ञासियां जारी की थीं, उनके खिलाफ विश्वविद्यालय-छात्रों के प्रदर्शन (परेड) में हिस्सा लिया। बॉन में ही एक कवि के रूप में उनकी ख्याति का प्रसार शुरू हुआ। 'कानून' की पढ़ाई से ज्यादा उनका मन 'साहित्य' में लगता था।

बॉन में एक साल बिताने के बाद हायनरिख कानून की आगे की पढ़ाई के लिए गौटिंगेन विश्वविद्यालय चले गए। गौटिंगेन शहर उन्हें नहीं भाया। उन्हें वहां के अभिजात वर्ग का नकचढ़ापन बहुत खटकता था। वहां के विश्वविद्यालय में जो 'हिस्टोरिकल स्कूल ऑफ लॉ' पढ़ाया जाता था, उसमें प्रतिक्रियावादी किस्म की किसी सरकार को, किस तरह बुलंद रखा जा सकता है, यही बताया जाता था। स्वभावतः ऐसी सरकारों की बुलंदी में हाइनरिख को कोई दिलचस्पी नहीं थी।

इसके बाद सन् 1829 में वह बर्लिन विश्वविद्यालय में आ गए। हायनरिख हाइने को पढ़ाने वाले अध्यापकों में संस्कृत भाषा के जानकारी फ्रांज बौद्ध और होमर की रचनाओं के विशेषज्ञ एफ.ए. वोल्फ के अलावा सबसे महत्वपूर्ण अध्यापक थे जी.डब्ल्यू. एफ. हेगेल। वह भी नैपोलियन के प्रशंसक थे। हायनरिख हाइने पर हेगेल का प्रभाव कितना गहरा था, इसका ठीक-ठीक आकलन कर पाना कठिन है।

इन्हीं वर्षों में जर्मन सरकार ने धीरे-धीरे यहूदियों के खिलाफ भेदभाव बढ़ाना फिर शुरू कर दिया था। सन् 1822 में तो यहूदियों को शिक्षा क्षेत्र के उच्च पदों से दूर रखने का कानून तक लागू कर दिया गया। हायनरिख की इच्छा थी, वह विश्वविद्यालय में शिक्षक बनें। इसी माहौल में सन् 1825 में वह, प्रोटेस्टेंट मत के अनुसार 'बपतिस्मा' हो जाने पर उनका नाम 'हैरी' से बदलकर 'हायनरिख' हुआ। 'यह यूरोपीय सभ्यता में प्रवेश का टिकट है', अपने कदम को वाजिब ठहराते हुए उन्होंने तर्क दिया था। लेकिन इस सब के बावजूद, उन्हें किसी विश्वविद्यालय में शिक्षक का पद या कोई सरकारी नौकरी कभी नहीं मिली।

सन् 1821 तक, जब वह बॉन विश्वविद्यालय में थे, हायनरिख की कविता पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगी थी और एक कवि के रूप में उनकी ख्याति फैलने लगी थी। उनकी कविता 'ज्वाई गिनेडियर' में नैपोलियन के प्रति उनका जुनून स्पष्ट झलकता है।

उन्हीं दिनों अपने चाचाजी की दोनों बेटियों से उनका एकतरफा इश्क हो गया। जाहिर है, प्यार में डूब कर उन्होंने कविताएं भी लिखीं। कविताओं का पहला संकलन सन्

1827 में निकला, नाम था 'बुख डेर लीडर'। इस संकलन की दो-तिहाई कविताओं में लोक-गीतों की झलक तो है ही, इनमें अंतर्निहित व्यंग्य, इन्हें मुख्य रोमांटिक धारा से अलग करता है।

'बुख डेर लीडर' जब प्रकाशित हुई तो किसी ने आशा नहीं की थी कि वह जर्मन कविताओं की एक अत्यधिक लोकप्रिय पुस्तक सिद्ध होगी। शुरू में उसकी बिक्री साधारण थी, लेकिन जब उसकी कविताओं को रॉबर्ट शूमन और फेलिक्स मंडेलेसन जैसे सुप्रसिद्ध संगीतकारों ने संगीत के मधुर स्वरों में बांधा तो लोगों का ध्यान उन कविताओं की ओर गया।

गर्मियों के दिनों में हायनरिख ने कुछ यात्राएं की जिनका वृत्तांत चार खंडों में 'राइजबिल्डेर' (सन् 1826-1931) नाम से प्रकाशित हुआ। 'राइजबिल्डेर' का शाब्दिक अर्थ है 'यात्रा चित्र'। इनमें आत्मकथात्मक सामग्री तो है ही, प्रकृति के मनोरम चित्रण के अलावा सामाजिक व्यवस्था पर आलोचनात्मक टिप्पणियां और साहित्यिक चर्चा भी है। उनका लेखन सहज पठनीय है। पहले खंड की लोकप्रियता देखकर प्रकाशक ने अगले वर्ष ही दूसरा खंड भी जल्दी लिख डालने का उनसे आग्रह किया और वह सन् 1827 के अप्रैल महीने में छपकर आ भी गया। पहला खंड मई 1826 में प्रकाशित हुआ था। 'फादरलैंड' होने के कारण हायनरिख को जर्मनी से गहरा लगाव था, तथापि सरकारी तंत्र की निरंकुशता और प्रगतिगामी अंधराष्ट्रीयतावादी रुझान उन्हें तनिक भी प्रिय नहीं था। इनकी वह कड़ी आलोचना करते थे और अपने व्यंग्य का निशाना बनाते थे। स्वयं उनकी रचनाएं कई बार 'सेंसर' की गिरफ्त में ली जा चुकी थीं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि पैनी निगाह से की गई उनकी आलोचनात्मक टिप्पणियां और व्यंग्यात्मक चोटें निशाने पर बैठती थीं और बहुत असरदार साबित हुईं। उन्होंने उपन्यास लिखने की भी कोशिश की, लेकिन इस विधा में उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। सन् 1827 में हायनरिख हाइने इंग्लैंड गए, लेकिन वहां की औपचारिकताओं और 'बुर्जुवा' भौतिकवाद से बड़े निराश हुए। निरी व्यावसायिकता से सराबोर, इंग्लैंड की शुष्क जिंदगी उन्हें नीरस लगी।

सन् 1831 में वह पेरिस चले गए, जहां एक अनपढ़ लड़की से उन्हें इश्क हो गया। शेष जीवन के लिए वह फ्रांस में ही बस गए। सात साल की 'कोर्टशिप' के बाद उन्होंने उस सेल्सगर्ल-माटिल्डा-से शादी कर ली।

शुरू में तो माटिल्डा बहुत फालतू खर्च करती थी, लेकिन अंतिम समय में उसने हायनरिख की बड़ी सेवा की। उन्होंने माटिल्डा पर भी कविताएं लिखीं, लेकिन वह उनकी सर्वोत्तम कविताओं में नहीं है।

पेरिस में रहते हुए हायनरिख वहां के सांस्कृतिक और राजनीतिक मामलों पर लिखते थे, यात्रा-वृत्तांत लिखते थे, जर्मन साहित्य और दर्शन पर भी लिखते थे, और कविताएं तो वह लिखते ही थे। 1830 की क्रांति, एक पेटिंग: स्वतंत्रता, जनता का नेतृत्व

करती वह फ्रांस की सन् 1830 की जुलाई क्रांति से भी प्रभावित थे, जिसने लुई फिलिप को फ्रांसीसियों का 'नागरिक बादशाह' बनने का अवसर दिया था। फ्रांस में जल्द ही वह एक जानी-मानी हस्ती बन गए। पेरिस में उन्हें ऐसा समृद्ध सांस्कृतिक वातावरण मिला, जिसकी जर्मनी के छोटे शहरों में वह कल्पना तक नहीं कर सकते थे। उस समय पेरिस नए विचारों का केंद्र था। विक्टर ह्यूगो अपना 'नोत्रेदाम दे पेरिस' प्रकाशित कर चुके थे। बालजाक और जॉर्ज सैंड के पहले उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे। देलाकू और देलारूख कला के केंद्र बन चुके थे।

हायनरिख हाइने के क्रांतिकारी विचार जर्मन सरकार को, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रास नहीं आते थे। सन् 1835 में जर्मन सरकार ने देश भर में उनकी पुस्तकों पर प्रतिबंध लगा दिया। हाइने को चारों तरफ से पुलिस के गुप्तचरों ने घेर लिया। उनकी हर गतिविधि पर नजर रखी जाने लगी। उनका स्वेच्छा से विदेश में रहना, अब केवल उनकी अपनी इच्छा पर निर्भर नहीं रहा। इस माहौल को देखकर कवि हाइने ने कहा :

'जब मंच से नायक चले जाते हैं, तो विदूषक आ जाते हैं.... (when the heroes go off the stage, the clowns come on).....'

सैंसर के प्रतिबंधों के बावजूद हायनरिख सन् 1843 में जर्मनी गए और एक लंबी व्यंग्यात्मक कविता प्रकाशित की 'Deutschland : Ein Wintermarchen' (जर्मनी : जाड़े के दिनों की एक कहानी)। यह कविता सन् 1844 में प्रकाशित उनके काव्य-संकलन Neue Gedichte (नयी कविताएं) के एक अंग के रूप में छपी। इसमें जर्मनी की प्रतिक्रियावादी संस्थाओं, वहां के सरकारी तंत्र आदि की खिंचाई की गई थी।

सन् 1844 में लिखी गई यह कविता, हाइने ने अपने युवा मित्र कार्ल मार्क्स की कुछ ही महीने की दोस्ती के बाद लिखी थी, जो जर्मन सरकार द्वारा उनके क्रांतिकारी विचारों के समाचार-पत्र के खिलाफ दमनकारी कदम उठाए जाने पर अक्टूबर, 1843 में पेरिस चले आए थे। उक्त कविता के अंत में हैमबुर्ग की देवी जर्मनी के भविष्य का एक चित्र कवि को दिखाती है।

कार्ल मार्क्स ने vorwärts (वोरवर्ट्स) नामक अपने पत्र में हायनरिख हाइने की कई कविताएं छापीं, जिनमें से एक राजनीतिक कविता जो उनकी 'टिपीकल' कविता न होते हुए भी बहुत लोकप्रिय हुई वह सिलेसिया के बुनकर मजदूरों से संबंधित थी। सन् 1844 में सिलेसिया के मजदूरों ने जब वहां काम की खस्ता और असहनीय हालत के कारण विद्रोह कर दिया, तो हाइने ने उनका साथ देते हुए कविता लिखी Die schlesischen Weber (दि साइलेसियन वीव्हर) :

हाइने ने अपनी इस कविता में कहा :

Doomed be the Fatherland, false name
Where nothing thrives but disgrace and shame
Where flowers are crushed before they unfold
Where the worm is quickened by rot and mold

We weave, we weave.

फ्रेडरिक एंगेल्स ने इस कविता का अंग्रेजी में अनुवाद किया और इसके व्यापक रूप से पढ़े जाने में मदद की।

'वोरवर्त्स' के प्रकाशन से झुंझलाई जर्मन सरकार ने फ्रांस पर दबाव डालना शुरू किया कि वह उस पत्र के खिलाफ कदम उठाए, लिहाजा फ्रांस से निर्वासित होकर मार्क्स को जनवरी सन् 1845 में बेल्जियम चले जाना पड़ा तो भी हायनरिख और मार्क्स के बीच जब-तब पत्राचार चलता रहा।

हायनरिख हाइने का अंतिम 'प्रेम प्रसंग' कैमिला सेल्डन नाम की एक आस्ट्रियन महिला से उनका इश्क है, जिसे वह 'मूछ' नाम से बुलाते थे।

कैमिला के लिए लिखे गए उनके गीत, हाइने के सबसे सुंदर प्रेम-गीतों में हैं।

उनकी एक और बहुत प्रसिद्ध कविता है 'दि लोरीलेई', जिसे सिलचर ने सन् 1837 में संगीतबद्ध किया था। यह जर्मनी के सर्वाधिक लोकप्रिय गीतों में से है। इसका एक अंश इस प्रकार है :

I do not know what haunts me,
What saddened my mind all day;
An age-old tale confounds me,
A spell I cannot allay.

अपनी चचेरी बहन के इश्क में लिखी गई उनकी कविता की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं :

You are so lovely as a flower
So pure and fair to see;
I look at you, and sadness
Comes stealing over me.

अपने अंतिम समय में हायनरिख गंभीर रूप से बीमार हो गए थे, उन्हें सिफलिस जैसी बीमारी ने जकड़ लिया था। उन्हें दिखाई देना भी लगभग बंद हो गया था इसलिए जीवन के आखिरी वर्षों में लिखने-पढ़ने में वह असमर्थ हो गए थे। उनका अंतिम लेखन 33 वर्ष की आयु में हुआ।

हायनरिख हाइने का निधन पेरिस में सन् 1856 की 17 फरवरी को हुआ। उनकी पत्नी माटिल्डा अभी जीवित थीं लेकिन हाइने दंपति की अपनी कोई संतान नहीं थी। हाइने के देहांत के बहुत दिनों बाद तक उनके नाम को लेकर निरंकुशता के समर्थकों तथा अन्य लोगों के बीच मतभेद चलते रहे। हाइने का स्मारक खड़ा करने के मसले पर दंगे हुए। वह स्मारक अब न्यूयॉर्क के ब्रांक्स इलाके में देखा जा सकता है। हाइने की कविताओं ने अनेक युवा कवियों को प्रभावित किया, जिनमें रिल्के, विल्हेल्म बुश और फ्रैंक वेडेकाइंड के अतिरिक्त अनेक उभरते हुए कवि शामिल थे।

हायनरिख हाइने को मानो एक प्रकार का पूर्वाभास हो गया था कि जर्मन अंधराष्ट्रवाद आगे चल कर वह रूप धारण कर सकता है, जो बीसवीं सदी में नाजीवाद के

चोले में उभरा। हाइने ने सन् 1821 में एक नाटक लिखा था, 'आलमंजर'। उस नाटक की जो पंक्तियां बहुत प्रसिद्ध हुईं वे थीं :

'Where they burn books, they will ultimately also burn people.' (जहां वे पुस्तकें जलाते हैं, वहां अंततः वे इंसानों को भी जलाएंगे)

जर्मनी में सत्ता में आने के बाद एडोल्फ हिटलर की नाजी पार्टी ने यही सब किया। सन् 1933 में बर्लिन के 'ओपेर्नप्लाट्ज' में जो हजारों पुस्तकें 'अश्लीलता' के नाम पर जलाई गईं, उनमें हाइने की प्रसिद्ध रचनाएं भी थीं। अगर धोखे से कुछ बची भी थीं, तो उन पर से हाइने का नाम (उनकी यहूदी विरासत के कारण) हटाकर 'अज्ञात कवि' लिख देने का हुक्म दिया लेकिन समय बदला। हाइने की 100वीं पुण्यतिथि पर (सन् 1956 में) जर्मनी में, उनकी स्मृति में डाक टिकट जारी हुआ और बर्लिन में आज उनका स्मारक भी है।

'स्क्रेप बुक' में क्यों?.....

- वह यहूदी मूल के एक ऐसे जर्मन कवि थे जिनका सम्मान उनकी मातृभूमि की जगह फ्रांस, इंग्लैंड और अमेरिका के लोग ज्यादा करते थे।
- हायनरिख हाइने के समय में अनेक सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन हो रहे थे। फ्रांसीसी विद्रोह और नैपोलियन के युद्धों ने उनकी सोच को गहराई से प्रभावित किया। डॅसलडॉर्फ का लोक-जीवन और लोक-संगीत उनके तन-मन में रचा-बसा था।
- हाइने का मानना था कि ऐसा लेखन जिसका कोई सामाजिक या राजनीति महत्त्व न हो, बे-मानी है।
- सेंसर की परवाह किए बिना, उन्होंने प्रतिक्रियावादी ताकतों का मजाक उड़ाते हुए 'जर्मनी : एक जाड़े की कहानी' जैसी लंबी कविता लिखी। यह उस समय बड़ी हिम्मत का काम था।
- उसी वर्ष साइलेसिया के बुनकर मजदूरों के विद्रोह का साथ देते हुए उन्होंने अपनी मशहूर कविता लिखी जिसका एंगेल्स ने अंग्रेजी में अनुवाद किया और दुनिया भर में उसकी चर्चा हुई ।
- कार्ल मार्क्स ने भी, उक्त कविता सहित, हाइने की कई कविताएं पेरिस से प्रकाशित अपने पत्र 'फोर्वर्ट्स' में छापी थीं और बाद में भी कुछ समय तक उन दोनों के बीच पत्राचार चलता रहा।
- उनके व्यक्तित्व में एक ऐसी दबंगई और खिलंदडापन था कि वह सरकारी तंत्र और व्यवस्था के दमनकारी तौर-तरीकों का मजाक उड़ाने में कोई कसर नहीं छोड़ते थे। सरकार, उनके लिखे को पढ़कर चिढ़ती थी। उन्हें एक प्रकार से जलावतन कर दिया था।

हायनरिख हाइने की कुछ अन्य प्रभावी उक्तियां

- मुझसे यह न पूछिए कि मेरे पास क्या है, बल्कि मैं क्या हूँ।
- अनुभव एक अच्छी पाठशाला है, लेकिन फीस बहुत ऊंची है।
- मैंने ऐसा गधा कभी नहीं देखा, जो इंसानों की तरह बातें करता हो, पर ऐसे बहुत से इंसान देखे हैं, जो गधों की तरह बातें करते हैं।
- बेशक ईश्वर मुझे क्षमा करेगा, यही तो उसका काम है।
- जब शब्द चुक जाते हैं, संगीत शुरू होता है।
- भूखों की भूख आप आंकड़ों से नहीं मिटा सकते।

एक महान कवि की तरह प्रकृति जानती है कि बेहद सीमित साधनों से कैसे अधिकतम प्रभाव उत्पन्न किया जाए।

बहुवचन फिल्म विशेषांक

लेखक बंधुओं से 'हिंदी सिनेमा के सौ साल' विशेषांक के लिए हिंदी सिनेमा से संबंधित विषयों पर केंद्रित मौलिक/ अप्रकाशित/ अप्रसारित लेख और फिल्म निर्देशकों से बातचीत 30 अप्रैल, 2013 तक आमंत्रित है। विशेष जानकारी संपादक को फोन कर भी प्राप्त की जा सकती है। लेख के लिए अधिकतम शब्द संख्या तीन हजार है।

आप लेख व अन्य सामग्री amishrafaiz@gmail.com, या amitbishwas2004@gmail.com पर ई-मेल कर सकते हैं अथवा रजिस्ट्रीकृत डाक/स्पीड पोस्ट से निम्न पते पर भेज सकते हैं-

संपादक

बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)

मो. नं. 09422386554

शमशेर : एक कथात्मक लिरिकल कवि

शंभु गुप्त

जिस तरह मुक्तिबोध हिंदी के अपनी तरह के अकेले कथात्मक कवि हैं, शमशेर उसी तरह अपनी तरह के अकेले लिरिकल कवि। कथात्मक कवि में गीति के और गीति-प्रधान कवि में कथात्मकता के तत्व बाकायदा और बखूबी मिलते ही तो हैं। यह कथात्मकता विवरणों के रूप में न होकर संकेतों के रूप में होती है जैसे कि- शमशेर के 'राह तो एक थी' शीर्षक गीत की ये पंक्तियां

किस लीलायुग में आ पहुंचे
अपनी सदी के अंत में हम
नेता, जैसे घास-फूस के
रावण खड़े कराए गए।

इनके साथ अगर 'अमन का राग' शीर्षक कविता की यह अंतिम पंक्ति मिलाकर पढ़ी जाए तो बात एकदम साफ होती नजर आएगी-

हम मनाते हैं कि हमारे नेता इनको देख रहे हों।

'अमन का राग' शीर्षक इस कविता में जो सपने देखे गए थे, अपने नेताओं से जो यह उम्मीद की गई थी कि वे भी इनको देख रहे होंगे; इस सदी के अंत तक आते-आते एकदम चकनाचूर हो लिए! 'अमन का राग' के साथ 'राह तो एक थी' के साथ-साथ 'धार्मिक दंगों की राजनीति', 'ओ मेरे घर' इत्यादि कविताओं को भी पढ़ा जाए तो बात और भी ज्यादा साफ हो जाती है। यानी कि सदी के अंत में यह जो कथित लीलायुग हमारे सामने उपस्थित हुआ है, वह दरअसल हमारे उन शांति, एकता, धार्मिक सद्भाव,

विश्व-मानववाद, सृजनात्मक नवनिर्माण के सपनों के कब्रिस्तान से ज्यादा कुछ नहीं है। ये सपने आज किस हालत में हैं, कौन नहीं जानता! इन्हीं में एक सपना समाजवादी राज्य के निर्माण का भी था, लेकिन ये सारी चीजें सिर्फ सपना बनकर रह गईं। इन सपनों को नेस्तनाबूद किसने किया? सबसे ज्यादा हाथ इस काम में किसका रहा? शमशेर अपनी उत्तरकालीन कविताओं में जो किसी को कोसते, ताने मारते, लानत भेजते लगातार दिखाई देते हैं; वह प्रकारांतर से मौजूदा व्यवस्था प्रतीत होती है, जिस पर हमारे इन सपनों को पूरा करने की जिम्मेदारी थी लेकिन जो अपने एक खास किस्म के चरित्र के चलते ऐसा नहीं कर पाई! शमशेर इन कविताओं में जैसे एक सकते-से में हैं कि यह सब आखिर हुआ क्या और कैसे? 'काल तुझसे होड़ है मेरी' से लेकर बाद तक यह चीज शमशेर में हमें दिखाई देती है। मुक्तिबोध और नागार्जुन के युगबोध को शमशेर से अलगाने के मकसद से 'लाउड' युगबोध कह सकते हैं क्योंकि शमशेर खुद के युगबोध को 'एक महीन युग-भाव' कहते हैं। 'एक नीला दरिया बरस रहा' कविता के छठे हिस्से में वे कहते हैं-

समय के
चौराहों के चकित केंद्रों से
उद्भूत होता है कोई: 'उसे-व्यक्ति-कहो':
कि यही काव्य है
आत्मतम
इसीलिए उसमें अपने को खो दिया
जाना गवारा करता हूँ
क्योंकि वहां मेरा एक महीन युग-भाव है।

यह महीन युग-भाव कांटे की चीज है। हिंदी में यह शमशेर-जैसे कवियों में ही मिलती है। शमशेर-एक ऐसा कवि जो अपनी संरचना में इतना निजी है कि लगभग पारदर्शी है और साथ ही इतना युग-सापेक्ष है कि लगभग राजनीतिक है। अपनी एक डायरी में शमशेर ने लिखा था-'अगर्च कोई चीज बजाहिर मुझे बांधती नहीं: सिवाय शायद कला की सच्चाई के। जिंदगी को मैं शायद उसी के सहारे, उसी की परतों में टटोलता, समझता, झेलता चला आ रहा हूँ। ज्यों-त्यों। बहरकैफ।'

संभवतः कलावादी जिन चीजों के चलते शमशेर पर डोरे डालते हैं, यह उनमें से एक है। लेकिन हमें यह भी देखना चाहिए कि शमशेर निजी सच्चाई को जितना महत्व देते हैं, उससे कम सामाजिक सच्चाइयों को नहीं देते। अपने एक आलोचनात्मक लेख 'सामाजिक सत्य और रचना का माध्यम' में ब्रेख्त और फैज के हवाले देते हुए वे कहते हैं-'मैं यह निश्चित समझता हूँ कि सामाजिक संरचना वस्तु और रूप दोनों को प्रभावित करती है। ब्रेख्त और फैज दोनों की रचनाओं में सामाजिक यथार्थ को व्यक्त करते समय जो एक गोपन की, प्रायः रूपक के माध्यम से परोक्ष अभिव्यक्ति की, कलात्मक चतुराई

दिखाई देती है, वह उनके समय की सामाजिक संरचना का भी असर है।' इस क्रम में आगे वे यह भी कहते हैं कि 'एक आंदोलन कई कला-रूपों को प्रभावित कर सकता है।' शमशेर में यह जो निजी और सामाजिक की परस्पर अंतर्व्याप्ति और अन्विति है, इसने उनकी रचना की संरचना को एक गजब मौलिकता और अद्वितीयता दी है। शमशेर एक बेहद 'पर्सनल' कवि हैं लेकिन जब-जब, जितने पर्सनल वे होते हैं, उनकी अभिव्यक्तियां तब-तब पलटकर, उतनी ही 'पॉलिटिकल' भी हो आती हैं। उनका कुछ भी पर्सनल पर्सनल नहीं है, अपनी अंतरात्मा में वह नितांत पॉलिटिकल है। पर्सनल और पॉलिटिकल का यह 'फोनिमिक्स' शमशेर की अन्यतम विशेषता है जो हिंदी में अन्यत्र लगभग अप्राप्य है। जिसे शमशेर की 'शमशेरियत' कहा जाता है, उसका एक महत्वपूर्ण उपलक्षण संभवतः यह भी है।

शमशेर ने अपनी एक कविता में लिखा है-

नशा मुझे नहीं होता। नहीं होता।

मुझे पीने वालों को

होता

है-मेरी कविता को

अगर वो उठा सके और एक घूंट

पी सके

अगर

शमशेर को खुद नशा नहीं होता! वे शराब मांगते हैं, पीते हैं, लेकिन नशे से दूर हैं। है न अजीब बात! लेकिन अजीब इसमें कुछ भी नहीं है। यह अजीब उनको लगेगा, जो काव्यभाषा की व्यंजना नहीं जानते। शमशेर के तीर महाभारत के मिथकीय तीरों की तरह लक्ष्य तक पहुंचते-पहुंचते न जाने क्या से क्या हो जाते हैं! शमशेर जब कहते हैं कि उन्हें शराब पीकर भी नशा नहीं होता तो क्या इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे सारी चीजों, बाह्य यथार्थ, सामाजिक संरचना इत्यादि में भारी संलग्न और एकमेक होते हुए भी अपनी रचना की संरचना में उनसे एकदम असंलग्न हैं। वे सारी चीजों, बाह्य यथार्थ, सामाजिक संरचना इत्यादि में खो नहीं जाते, किसी तरल आवेश की गिरफ्त में नहीं पहुंच लेते बल्कि पूरे होशोहवास में और सावधानी के साथ उसे क्रिटिकली लेते हुए अपने हिसाब से पेश करते हैं। उनका यह हिसाब थोड़ा अलग काट का और असामान्य है। वे प्रचलित प्रगतिशील-जनवादी इतिवृत्तात्मक और आस्फालित कथन-प्रणाली के स्थान पर सांकेतिक, व्यंजनामूलक और बिंबात्मक शैली का सहारा लेते हुए पर्याप्त संक्षिप्त और सारगर्भित रूप में अपनी बात कहते हैं और जितना कहते हैं, उससे ज्यादा अनकहा छोड़ देते हैं। अनकहा वहां हालांकि कुछ होता नहीं है, वह सिर्फ 'इन बिटवीन द लाइन्स' या 'इन बिटवीन द वर्ड्स' होता है। इन पंक्तियों और शब्दों के अंतर्वर्ती अर्थों को पकड़ने और खोलने के लिए एक तो शमशेर की शेष कविताओं से बखूबी परिचय और विज्ञता जरूरी होती है और

दूसरे उनकी व्यक्तिगत जीवन-चर्या को समझना, उसे हृदयंगम करना जरूरी होता है। शमशेर को केवल और केवल संक्षिप्त और समग्र रूप में ही लिया जा सकता है। अलग-अलग और टुकड़ों-टुकड़ों में लेते हुए उन्हें नहीं समझा जा सकता। शमशेर को समझने के लिए उनके चित्रांकन के साथ-साथ उनके गद्य को लेना भी जरूरी होता है। यों तो लगभग सभी रचनाकारों को उनकी समग्रता और संक्षिप्तता में ही समझना सर्वोपयुक्त होता है लेकिन शमशेर जैसे अननुमेय कवि के साथ तो ऐसा किया जाना निहायत ही जरूरी होता है क्योंकि वहां कौन-सा अर्थ किस बहाने खुलेगा, कोई नहीं जानता। वैसे, किसी कवि का इस कदर अननुमेय होना कि उसे समझने के लिए अच्छी-खासी मशक्कत और माथापच्ची करना पड़े, यह कम से कम आलोचना के लिए एक बहुत ही अच्छी स्थिति होती है। दरअसल वह कवि ही क्या जो इधर पढ़ा और उधर समझ में आ गया?

शमशेर हिंदी का अकेला ऐसा कवि है, जिसे समझने के लिए काव्यालोचन के साथ-साथ अन्य अनेक ज्ञानानुशासनों और कला-माध्यमों के उपकरणों की जरूरत अनिवार्यतः पड़ती है। शमशेर अपने आलोचनात्मक लेखों और कहीं-कहीं कविताओं में भी 'सरलता' की बहुविध वकालत करते देखे जाते हैं लेकिन यह सरलता सहजता और सुगमता का ही पर्याय हो सकता है; यह सरलीकरण का वाचक नहीं है। सरलीकरण की तो कल्पना भी शमशेर में नहीं की जा सकती। सरलीकरण पाठक के हित में होता भी नहीं है। अलबत्ता इतना जरूर कहा जा सकता है कि शमशेर में पाठक के लिए अनंत स्पेस मौजूद है। बावजूद ढेर सारी दुरूहता, निगूढता, अन्यार्थकता इत्यादि के शमशेर के यहां पाठक के लिए इतना ज्यादा खुला आसमान विद्यमान है कि आश्चर्य होता है कि यह कवि अपनी रचना-प्रक्रिया पर किस कदर मेहनत करता होगा। इस आसमान में गोते लगाने के लिए सिर्फ इतना आवश्यक है कि कवि की तरह ही 'गद्दों पर बैठने की आदत' आपकी भी न हो (शमशेर उदभावना विशेषांक, पृ.-299), कवि की तरह ही बच्चों-जैसी निरभ्रता, पारदर्शिता, सहजता, अहेतुकता, सशक्तता, दबाव इत्यादि बाकायदा आप में भी हों (वही, 320), कवि की तरह ही हर वस्तु की अलग रिझ, अलग हलचल, क्रियाविधि इत्यादि से आप भी भलीभांति परिचित हों (वही, 316)। और थोड़ा खुलकर और गहरे जाकर कहा जाए तो, आप में निरभ्र और निश्छल तरीके से जिंदगी की रौ में बह जाने और बहते चले जाने की स्वाभाविकता हो, एक अंतःशक्ति हो, जिसके सामने आपकी एक न चले। एक ऐसी जीवन-चर्या का अभ्यास आप का हो जो पता न चले कि कहां से नियंत्रित और संचालित हो रही है लेकिन जिसमें एक व्यवस्था और वैकल्पिकता अनिवार्यतः हो, कोई विचारधारा चाहे हो न हो, वैचारिकता और विजन जरूर से जरूर हो- 'यकबयक एक इमेज-जैसी कोई चीज आ जाती है और वो...यानी वो अपने शब्द लिए हुए आती है। और मैं फौरन उसको लिख लेता हूं क्योंकि वो एक-एक आंतरिक फोर्स, एक मजबूरी जो मुझे बांध लेती है वो हाथ पकड़कर जैसे आयद हो मुझसे लिखवाती है।' (वही, 316)।

ये सब चीजें हों तो शमशेर की कविता को समझना और हृदयंगम करना आसान हो जाता है। शमशेर की कविता केवल समझने की नहीं बल्कि हृदयंगम करने की चीज है। जैसे मुक्तिबोध की कविता है। हृदयंगम किए जाने की शर्त पर ही ये दोनों कवि समझ में आ सकते हैं। अधिगम की गुणवत्ता और स्तर के हिसाब से ये दोनों कवि लगभग एक जमीन पर खड़े हैं।

शमशेर और नागार्जुन भिन्न शिल्प-प्रविधियों के कवि हैं लेकिन नागार्जुन शमशेर के सर्वप्रिय कवियों में पहले स्थान पर आते थे। 'एक बिल्कुल पर्सनल एसे' में उन्होंने लिखा- 'मेरे कुछ प्रिय हिंदी कवि...इनमें सबसे पहले, मेरे ध्यान में नागार्जुन आते हैं। क्यों? मैं सोचता हूँ, तो ऐसा मालूम होता है कि इसकी वजह उनका यह खरा और सीधा-सच्चा व्यक्तित्व है, जिसके कण-कण से अपने देश की मिट्टी का सौंधापन महसूस होता है। ...यह मुंहफट कवि अक्सर मुझे सबसे बड़ा, सुलझा हुआ, सबसे आधुनिक, सबसे जागरूक कवि लगता है।' (वही, 356)। आगे वे लिखते हैं- 'भावनाओं का सामाजिक परिवेश में विश्लेषण, हृदय को छूने वाला स्वर, उसके स्वर की निर्भीकता, स्वर में ओज और मर्यादा, उसका दो टूकपन, और पूरे नाटकीय फोर्स के साथ अनेक चरित्रों के संग-संदर्भ चित्रण... यही कुछ है जो नागार्जुन की तगड़ी चीजों को मेरे लिए अत्यंत प्रिय और महत्वपूर्ण बना देता है।' (वही, 357)।

इन पंक्तियों में नागार्जुन के बहाने शमशेर जाने-अनजाने एक कवि की श्रेष्ठता का पैमाना तय करते नजर आते हैं। इस पैमाने के बिंदुओं को यदि क्रमिकता दी जाए तो वे कुछ इस प्रकार होंगे- व्यक्तित्व का खरा और सच्चा-सीधापन, देशजता/राष्ट्रीयता, सुलझाव, आधुनिकता, प्रयोगधर्मिता, भावनाओं का सामाजिक परिवेश में विश्लेषण, हार्दिकता-आत्मीयता, निर्भीकता-ओजस्विता लेकिन संयम, दोटूकपन, यथार्थता और मूर्तता आदि-आदि। देखने की बात यह भी है कि इस पैमाने को वे केवल दूसरों पर ही लागू नहीं करते, अपने पर भी लागू करते हैं। बल्कि सबसे पहले स्वयं अपने पर ही लागू करते हैं।

इसी तरह निराला के विश्लेषण के बहाने इन पंक्तियों में जैसे वे अपने खुद के बारे में ही बात कर रहे हैं- 'निराला के गीतों और लिरिक्स की खूबी ये है कि पहली नजर में उनमें एक अस्पष्टता का पर्दा-सा रहते हुए आंतरिक स्थिति अद्भुत रूप से स्पष्ट व्यक्त होती महसूस होती है। हालांकि वह बिल्कुल पूरी तरह स्पष्ट नहीं होती।' (वही, 345)।

मेरा ख्याल है कि यह अस्पष्टता अनायास है। यह जानबूझकर पैदा की गई अस्पष्टता नहीं है। यह रचनाकार की अपने जीवनानुभवों और जीवनाधिगम की अनुरूपता के अंतर्गत है। एक तरह से देखा जाए तो यह लेखक के अपने जीवनानुसंधान की अनवरत प्रक्रिया के एक सहज/स्वाभाविक हिस्से के बतौर सामने आती है। लेखक के अपने तई यह अस्पष्टता नहीं है। यह दरअसल पाठक पर आयद होती है। पाठ में अंदर ही अंदर जो एक अप्रतिहत भावाकुलता खदबदा रही होती है, जो एक बेचैनी और द्वंद्वात्मकता पसरी पड़ी होती है; जब एक पाठक उसका अधिगम शुरू करता है तो यही

भावाकुलता, बेचैनी और द्वंद्वात्मकता पूरी रचना को और उसके रचयिता को एक नया अर्थ और संदर्भ देना शुरू कर देती हैं। यह नया अर्थ और संदर्भ लेखक के अपेक्षित अर्थ और संदर्भ से भिन्न भी हो सकता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि पाठक लेखक से पूछ-पूछकर रचना का अर्थ समझे। वह इस मामले में सापेक्षिक रूप से स्वतंत्र होता ही है। वह लेखक का पिछलग्गू बिल्कुल नहीं होता। इस हिसाब से देखा जाए तो रचना में रह गई या छोड़ दी गई जिस अस्पष्टता की बात यहां की जा रही है, प्रकारांतर से वह पाठक को जाने-अनजाने एक छूट दिए जाने की स्वयं रचनकार की एक रचनात्मक रणनीति ही प्रतीत होती है। किसी की कोई रणनीति न भी हो तो इतना तो निश्चित ही है कि यह अस्पष्टता पाठक को रचना में एक गजब स्पेस देती चलती है। एक ऐसा स्पेस कि पाठक को भी लगे कि साहित्य की न केवल अधिगम बल्कि रचना-प्रक्रिया में भी उसकी एक अपरिहार्य हैसियत है।

दरअसल शमशेर की कविताओं तथा गद्य-रचनाओं को समझने के लिए हमें वैसे ही आलोचनात्मक विवेक और अंतरंग आत्म की जरूरत होगी, जैसा स्वयं शमशेर अपने से वरिष्ठ और समकालीन कवियों की समीक्षा करते हुए दिखाते हैं। अपने आलोचनात्मक गद्य में शमशेर जिस तरह की आलोचनात्मक आत्मीयता या कहें कि आत्मीय आलोचनात्मकता लेकर उपस्थित होते हैं वह एक बहुत ही नायाब चीज है। निराला, पंत, बच्चन, सुभद्राकुमारी चौहान, नागार्जुन, त्रिलोचन, रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, बालकृष्ण राव, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय, अज्ञेय, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध, नरेश मेहता, नेमिचंद्र जैन, गिरिजाकुमार माथुर, श्रीकांत वर्मा, मलयज आदि पर लिखते हुए जिस तरह की एक सहज अबाध अंतरंगता और अभिन्नता की मनःस्थिति में वे हैं, वह एक बहुत ही दुर्लभ स्थिति है। यह प्रवृत्ति केवल शमशेर जैसे गिने-चुने सृजनात्मक लेखकों में ही पाई जा सकती है। शमशेर का यह आलोचनात्मक गद्य रचनात्मकता से भरपूर एक तरह का टटका और तेजस्वी गद्य है तो इसका कारण इसके अलावा और क्या हो सकता है कि शमशेर यहां एक पेशेवर आलोचक की तरह नहीं बल्कि एक हमराही लेखक की तरह अपने मित्र और प्रिय लेखकों पर अपना अभिमत व्यक्त कर रहे हैं। ये अभिमत, हो सकता है कि, कुछ आग्रहों और अपेक्षाओं से मुक्त न हों, कथित वस्तुपरकता का यत्किंचित अभाव यहां हो; जैसा कि स्वयं शमशेर ने अज्ञेय पर बात करते हुए अपने बहुत ही खूबसूरत और अपनी तरह के एक विशिष्ट निबंध 'एक बिल्कुल पर्सनल एसे' में लिखा है- 'मगर मैं पाठकों को पहले याद दिला दूं कि मैं अपने प्रिय कवियों और इस समय उनमें अज्ञेय, की प्रतिभा को, 'सब्जेक्टिव एंगिल' से अपने सामने देख रहा हूं; यानी मात्र एक पाठक के लिए जैसे-कुछ वह होते हैं।' (कुछ और गद्य-रचनाएं, राधाकृष्ण 1992, पृ.-30)। सब्जेक्टिव एंगिल तो दरअसल यह सिर्फ कहने को है। असलियत यह है कि शमशेर अपने इन मित्र और प्रिय कवियों के प्रति इतने ज्यादा निर्मम हैं कि देखते ही बनता है। लिखते हैं- 'अपने प्रिय कवियों का ही मैं तीव्र और कटु

आलोचक भी हो सकता हूँ (अन्यों का क्यों होऊँ?); उनके दोष मुझे कांटों की तरह खटकते हैं जिनके लिए मैं उन्हें क्षमा नहीं कर सकता। ...और मैं अपने किसी फेवरिट कवि को आतंक अपने लिए नहीं बनने देता। वह आतंक बना, और मैंने उसे छोड़ा।' (वही, पृ.-32)। देखा जा सकता है कि इस कथित सब्जेक्टिव एंगिल का असल रूप क्या है! ऐसे सब्जेक्टिव एंगिल पर लाखों तथाकथित ऑब्जेक्टिव एंगिल न्यौछावर हैं। वैसे देखा जाए तो ऑब्जेक्टिव एंगिल की अवधारणा एक संभ्रम ही तो है। ऑब्जेक्टिविटी नाम की किसी चीज का अस्तित्व वास्तव में इस दुनिया में है या नहीं, पक्के तौर पर कहा नहीं जा सकता। कथित रूप से ऑब्जेक्टिव होते हुए भी हम अंततः कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में किसी न किसी के प्रति सब्जेक्टिव होते ही हैं। चाहे किसी दूसरे के प्रति हों या फिर स्वयं अपने ही प्रति क्यों न हों क्योंकि हम आखिरकार कह रही रहे होते हैं, स्थापित वही कुछ करना चाह रहे होते हैं, जो कुछ हम अपने या किसी दूसरे को लेकर चाह रहे होते हैं। इस हिसाब से सब्जेक्टिविटी और ऑब्जेक्टिविटी नाम की यह बहस अपने जी-बहलाव और तसल्ली के लिए ठीक हो तो हो, तत्त्वतः इसकी कोई जड़ें नहीं हैं। जो हो। शमशेर के इन लेखों के विषय में यह जरूर कहा जाना चाहिए कि एक सृजनात्मक लेखक जब किसी दूसरे लेखक का मूल्यांकन/आकलन करता है तो उस लेखक की कुछ ऐसी विशेषताएं, प्रवृत्तियां उभरकर सामने आती हैं जो अन्यत्र किसी अकादमिक आलोचना में नहीं मिल सकतीं। हिंदी के ही नहीं, उर्दू के शायरों के आकलन में भी शमशेर अपनी इसी टटकी समीक्षा-दृष्टि का परिचय देते हैं। गालिब, फैज, मख्दूम तथा दूसरे शायरों का उनका आकलन इसका सबूत है। यह शमशेर ही कर सकते थे कि वे गालिब, निराला और मुक्तिबोध के बीच एक कड़ी बना सके- 'उसमें आज के, आधुनिक साहित्यकार की-सी पूरी तड़प और वेदना के बीच, एक तटस्थ यथार्थवादी दृष्टि है। उसका यथार्थवाद निर्मम है। मुक्तिबोध और निराला, अपने भिन्न संस्कारों के अस्त-व्यस्त परिवेश में, उसको कुछ-न-कुछ प्रतिबिंबित करते हैं।' (वही, पृ0-67)।

शमशेर की रचनात्मकता की कुछ वृत्तियों की ओर ऊपर कुछ इशारा किया गया। उनकी कविताओं, कहानियों, डायरियों, आलोचनाओं, स्केचों, अनुवादों इत्यादि तथा विशेषतः उनके व्यक्तित्व की विविध-आयामिता पर नजर डालें तो ये कुछ और प्रवृत्तियां वहां हमें देखने को मिलती हैं। ये प्रवृत्तियां दरअसल उनकी रचनात्मक प्राथमिकताएं हैं, जिन्हें वे हर कीमत पर अपने अंदर बनाए रखना चाहते हैं। इन प्राथमिकताओं को यदि सूत्रबद्ध किया जाए तो ये इस प्रकार हो सकती हैं-

1. खरा और सीधा-सच्चापन : व्यक्तित्व में भी और रचना में भी।
2. देशज राष्ट्रीयता : जन-मुक्ति के आंदोलनों में हिस्सेदारी; सत्तोन्मुखता नहीं।
3. संघर्ष और प्रतिरोध।
4. भावनाओं का सामाजिक परिवेश में विश्लेषण।
5. अनुभूति और अभिव्यक्ति की एकता। इनमें एकान्वय।

6. व्यापक सामूहिक सत्य की पहचान।
7. अपने पर सबसे ज्यादा ध्यान। यानी कि निरंतर आत्मान्वेषण, आत्मसंशोधन, आत्मालोचन, आत्मसंवर्द्धन की प्रक्रिया।
8. समसमय की पहचान और उसका अतिक्रमण।
9. स्मृति, इतिहास को वरीयता।
10. व्यक्तिगत और सामूहिक/सार्वजनिक जीवन में अभिन्नता। ('पर्सनल इज पॉलिटिकल' के आस-पास)।
11. हिन्दी-उर्दू-अंग्रेज़ी का समेकित काव्य-संस्कार।
12. सांप्रदायिकता के खिलाफ निरंतर लेखन।
13. मांसल लेकिन साथ ही हार्दिक प्रेम-संवेदना।
14. प्रेम का नया रूप: स्वतंत्रता।
15. पुरुषवाद/पुरुष वर्चस्ववाद से मुक्त।
16. हिंदी और उर्दू की समानांतरता।
17. सरलता/सहजता : गूढ़ संदर्भ भी सरल रूप में अभिव्यक्त हों।
18. वैज्ञानिक दृष्टिकोण अनिवार्य : समाज-विज्ञान-वेत्ता होना चाहिए लेखक को; भौतिक-विज्ञान-वेत्ता नहीं।

इसी तरह और भी कुछ बातें हो सकती हैं, लेकिन फिलहाल ये ही मेरे ध्यान में आ रही हैं। यों तो ये या इनमें से बहुत सारी बातें और भी कई लोगों में मिल जाएंगी और अच्छे-खासे रूप में मिल जाएंगी लेकिन इन सबका एक जगह मिलना और वह भी कुछ इस नामालूम तरीके से कि पता ही न चले और बात पढ़ने वाले के कलेजे में उतरती चली जाए; कम से कम हिंदी में बहुत ही विरल है।

हिंदी में कथेतर गद्य

माधव हाडा

हिंदी में गद्य का अस्तित्व तो बहुत पहले से था, लेकिन इसमें साहित्यिक सक्रियता का विस्तार आधुनिक काल में हुआ। औद्योगिक क्रांति, वैज्ञानिक चेतना के प्रसार और मुद्रण की सुविधा की गद्य के विकास और प्रसार में निर्णायक भूमिका है। हिंदी में गद्य की शुरुआत तो अठारहवीं सदी में ही तो गई थी, लेकिन इसका संस्कार-परिष्कार उन्नीसवीं सदी में हुआ और इसकी सभी विधाओं में लेखन का उत्साह तो बीसवीं सदी में ही देखने को मिला। आधुनिककाल को इसीलिए गद्यकाल भी कहा जाता है। इससे पहले भाव और विचार की अभिव्यक्ति कविता में ज्यादा होती थी। हमारे यहां तो प्राचीनकाल में राजनीति, अर्थशास्त्र और आयुर्वेद जैसे विषय भी कविता में लिखे गए थे। यूरोप में औद्योगिक क्रांति, नवजागरण, मुद्रण तकनीक के विकास और वैज्ञानिक चेतना के प्रसार से गद्य का विकास हुआ और उसमें कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना आदि विधाएं अस्तित्व में आईं। अंग्रेजों के आने के बाद हमारे देश में भी नवजागरण की प्रक्रिया शुरुआत हुई और मुद्रण की सुविधा से हिंदी में भी समाचार पत्र निकलने लगे और पठन-पाठन शुरू हुआ। अंग्रेजी साहित्य के संपर्क में आने से, इसमें जीवनी, संस्मरण, आत्मकथा और यात्रा वृत्तांत जैसी कथेतर गद्य विधाएं भी आईं लेकिन इसमें प्रधानता और वर्चस्व कहानी, उपन्यास का ही रहा। कुछ गिने-चुने लेखकों ने ही कथेतर गद्य की ओर रुख किया। इक्कीसवीं सदी के आरंभ से स्थितियां बदल गई हैं। ज्ञानोदय से कुछ हद तक लोगों का नजरिया बदल गया है। अब कल्पना की जगह तथ्य का आग्रह बढ़ रहा है। लोग अब ठीक-ठीक जानना चाहते

हैं, इसलिए वे कथा-कहानी की जगह संस्मरण, आत्मकथा, जीवनी, यात्रा वृत्तांत पसंद कर रहे हैं। हिंदी में इन दिनों कथेतर गद्य विधाओं में हलचल और उत्साह है।

हिंदी में साहित्य लेखन की शुरुआत थोड़ी झिझक के साथ भारतेंदु हरिश्चंद्र ने की। अब तक साहित्य की भाषा ब्रज थी इसलिए इसे छोड़कर खड़ी बोली हिंदी में लिखने के लिए प्रवृत्त होने में भारतेंदु हरिश्चंद्र को थोड़ी असुविधा हुई। उन्होंने ब्रज में पूर्ववत् कविकर्म जारी रखते हुए खड़ी बोली हिंदी साहित्य कर्म शुरू किया। भारतेंदु के समकालीन अन्य लोगों में, जिन्होंने ब्रज के साथ खड़ी बोली में साहित्यकर्म की शुरुआत की, बदरीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहन सिंह, बालकृष्ण भट्ट, अंबिकादत्त व्यास और लाला श्रीनिवासदास प्रमुख हैं। वस्तुस्थिति यह थी कि बीसवीं सदी की शुरुआत में जब हिंदी के विकास और संस्कार परिष्कार की बागडोर महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संभाली तो हिंदी अपने पांवों पर खड़ी हो चुकी थी और इसमें साहित्य की सभी आधुनिक गद्य विधाओं में लिखने की शुरुआत हो चुकी थी। 1903 में द्विवेदीजी *सरस्वती* के संपादक बने और इस पद पर रहकर उन्होंने हिंदी के साहित्यकारों और उदीयमान पाठकों के एक उदीयमान प्रांतीय समूह को साफ-सुथरी शिष्ट अभिव्यक्ति कला का प्रशिक्षण दिया। उन्होंने *सरस्वती* के माध्यम से हिंदी में गद्य का स्वीकृत और मानक रूप गढ़ा। गद्य का स्वरूप तय हो जाने के बाद इसमें लेखन की सक्रियता बढ़ी। कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना आदि के साथ जीवनी संस्मरण और यात्रा वृत्तांत जैसी कथेतर गद्य विधाओं में लेखन शुरू हुआ।

हिंदी में फिलहाल कथेतर गद्य विधाओं में सक्रियता है। एक समय यह शिकायत आम थी कि कहानी-उपन्यास के अलावा हिंदी में गद्य नहीं के बराबर है। अक्सर साहित्येतिहास की किताबों में जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, यात्रा वृत्तांत आदि विधाओं में स्वतंत्र रचनाओं के नाम गिनाने में लेखकों को मुश्किल होती थी। अब हालात बदल रहे हैं-कथाकार कथा के बजाय कथेतर गद्य में हाथ आजमा रहे हैं। कथेतर के प्रति पाठकों का आकर्षण बढ़ा है। इस कारण हिंदी में कथेतर गद्य में उत्साह और प्रयोगधर्मिता का माहौल है। काशीनाथ सिंह, दूधनाथ सिंह, राजेंद्र यादव, रवींद्र कालिया, विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी, अखिलेश आदि कई लोग इसमें सोत्साह सक्रिय हैं। कथेतर गद्य विधाओं में परस्पर और कथा विधाओं के साथ संवाद और अंतर्क्रिया भी बढ़ रही है। संस्मरण अब कहानी के उधार पर जीवित है, तो रेखाचित्र कहानी के दायरे में जा घुसा है। आत्मकथा उपन्यास जैसा मजा दे रही है तो जीवनी आत्मकथा हो गई है। लेनदेन के इस रिश्ते ने अब हिंदी कथेतर गद्य विधाओं को उनके देहरी-चौखटों से बाहर ला खड़ा किया है। उनकी पारंपरिक पहचान और शास्त्र के सामने संकट है। उनको किसी विधायी नाम संज्ञा के दायरे में बांधने में अब मुश्किलें हो रही हैं। कथाकार स्वयं प्रकाश ने इस मुश्किल को भांपते हुए एक जगह लिखा है कि 'पिछले कुछ वर्षों में हिंदी साहित्य में एक अजीब-सी बात हुई है। कहानी-उपन्यास की तुलना में ऐसी पुस्तकें पाठकों द्वारा अधिक पसंद की गई हैं, जिनकी विधा का निर्णय आसानी से नहीं किया जा सकता। कभी लगता है यह संस्मरण है, कभी

लगता है आत्मकथा, कभी लगता है डायरी है, कभी कथा-कोलाज या कथा रिपोर्टाज। कभी-कभी तो उन्हें कहानी या उपन्यास कहकर चलाने की कोशिश भी देखी गई। हिंदी में ऐसी कई रचनाएं हैं, जिनको किसी विधा के दायरे में नहीं बांधा जा सकता है।'

कथेतर गद्य विधाओं में जीवनी सर्वाधिक प्राचीन है। यह ऐसी साहित्यिक विधा है, जो एलन बेनेट के शब्दों में 'लोगों को उनकी औकात बता देती है। किसी तिल को ताड़ बना देती है।' पश्चिम में जीवनी लेखन बहुत पहले से शुरू हो गया था। यूनानी जेनोफोन और प्लूटार्क तथा रोमन टैसिटस और सेयेटोनियस जैसे जीवनीकार वहां 1800 वर्ष पहले हुए थे। आरंभ में जीवनियां विशिष्ट व्यक्तियों, राजाओं और धर्मगुरुओं की लिखी जाती थीं, लेकिन उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में इसमें बदलाव हुए। अब जीवनियां सामान्य व्यक्तियों की भी लिखी जाती हैं। पश्चिम में जीवनी अधिक लोकप्रिय साहित्य रूप है। यह वहां साहित्य रूप से आगे बढ़कर, टेलीविजन की प्रमुख विधा बन गई है। टेलीविजन पर, अब एक बायोग्राफी चैनल है, जिस पर केवल जीवनियां प्रसारित होती हैं, जिसको देखने वालों की संख्या भी अच्छी खासी है। जीवनी लेखन की पद्धतियां भी विकसित हुई हैं और ऐसी कई साइट्स हैं, जो जीवनी लेखन के तरीके सिखाती हैं। भारतीय परंपरा में भी जीवनी राजप्रशस्ति, चरित वर्णन आदि रूपों में बहुत पहले से विद्यमान है। चारणों ने इस दिशा में बहुत महत्वपूर्ण काम किया है। उन्होंने कई शासकों के जीवन चरित लिखे। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजी साहित्य के संपर्क में आने के बाद भारत में भी आधुनिक जीवनी लेखन की शुरुआत हुई।

जीवनी का आशय और अर्थ तय करने का काम स्वयं जीवनीकारों ने भी किया है और आलोचकों ने भी। दरअसल यह इतना स्पष्ट साहित्य रूप है कि इस संबंध में कोई विवाद नहीं है। जीवनी किसी व्यक्ति विशेष के जीवन का वृत्तांत है। अंग्रेजी में इसके लिए *लाइफ* और *बायोग्राफी* शब्दों का प्रयोग होता है। जीवनी में किसी व्यक्ति विशेष के व्यतीत जीवन की पुनर्रचना होती है। हैरी हडनी, एडगर एलन पो आदि विख्यात लोगों के जीवनीकार कैनेथ सिल्वर मेन ने जीवनी को परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'किसी अन्य व्यक्ति के जीवन की विश्वसनीय प्रमाणों वाली आख्यानात्मक नाटकीय प्रस्तुति को जीवनी कह सकते हैं।' कुछ साहित्य आलोचक जीवनी को साहित्य रूप मानने के विरुद्ध हैं, उनके अनुसार इसमें तथ्य और पत्रकारीय शैली का इस्तेमाल होता है। कुछ अन्य विद्वान इसे इतिहास से आगे की चीज मानते हैं। बेंजामिन डिज़राइली कहते हैं कि 'इतिहास मत पढ़ो : जीवनी के सिवा कुछ भी नहीं, क्योंकि वह है सिद्धांत के बगैर जिंदगी।' जीवनी का रूप जीवनीकार और लक्ष्य जीवन के संबंध पर निर्भर करता है। जीवनीकार जब जीवनी शुरू करता है, तो उसे खुद पता नहीं होता कि वह आगे जाकर क्या रूप ग्रहण करेगी। विख्यात जीवनीकार माइकेल हॉलरॉयड का कहना था कि 'जीवनी एक ऐसी विधा है, जिसमें जीवनीकार आरंभ में चरित नायक से शादी तो कर लेता है, पर उसकी निभेगी कि नहीं, यह जीवनीकार को भी पता नहीं होता।' जीवनी की परिभाषा देने

का काम हिंदी में भी हुआ है। बाबू गुलाबराय ने जीवनी में चरित्र वर्णन में कलात्मकता पर खास तौर पर जोर दिया है। उनके शब्दों में 'जीवनी लेखक अपने चरित नायक के अंतर-बाह्य स्वरूप का चित्रण कलात्मक ढंग से करता है। इस चित्रण में वह अनुपात और शालीनता का पूरा ध्यान रखते हुए सह्यता, स्वतंत्रता और निष्पक्षता के साथ अपने चरित नायक के गुण-दोष मय सजीव व्यक्तित्व एक आकर्षक शैली में उद्घाटन करता है।' इस तरह जीवनी किसी व्यक्ति विशेष के जीवन पर एकाग्र ऐसा साहित्य रूप है, जिसमें तथ्य, इतिहास, कला, कल्पना आदि सभी का योग रहता है।

जीवनीकार लक्ष्य व्यक्ति के जीवन में, जब कुछ खास देखता है, तभी वह उसे जीवनी के रूप में ढालने के लिए प्रेरित होता है। आम तौर पर लोगों का जीवन कमोबेश एक जैसा होता है। उनके दैनंदिन जीवन में कोई खास बात नहीं होती, लेकिन फिर भी मनुष्य मन के भीतर के रहस्यों को जानने की जिज्ञासा जीवनकारों को जीवनी लिखने के लिए प्रवृत्त करती है। कथाकार अरुण प्रकाश के शब्दों में कहें तो 'एक मनुष्य हर तरह का जीवन एक जन्म में नहीं जी सकता, इसीलिए वह दूसरों के जीवनानुभव में शिरकत करना चाहता है, क्योंकि वह यह भी जानता है कि रोजमर्रापन की पुनरावृत्ति के बावजूद हर मनुष्य में कुछ न कुछ विशिष्ट होता है। हर जीत और हार का रंग अलग-अलग होता है। रंग एक भी हुआ, तो रंग-आभा अलग-अलग होती है।' दुनिया के सब लोगों की जीवनियां नहीं होतीं, और जिन लोगों की जीवनियां लिखी जाती हैं, वे खास होते हैं। उनका जीवन समृद्ध और खास, मतलब लीक से हटकर होता है। वे पारंपरिक जीवन से हटकर अपने जीवन में कुछ ऐसा नया जोड़ते हैं, जो दूसरों के दैनंदिन जीवन से अलग और खास होता है। आम तौर पर जीवनी में किसी व्यक्ति का संपूर्ण जीवन होता है, पर इसके अपवाद भी मिलते हैं। अक्सर जीवनीकार लक्ष्य व्यक्ति के संपूर्ण जीवन को जीवनी के दायरे में लेता है। वह उसके जन्म से पहले की परिस्थितियों से आरंभ करता है और क्रमशः उसके निधन और बाद के हालातों तक जाता है। इस तरह उसका लक्ष्य अपने चरित नायक के संपूर्ण जीवन की पुनर्चना होता है लेकिन यह कोई नियम नहीं है। जीवनी कई बार लक्ष्य व्यक्ति के जीवन में लिखी जाती है, तब उसमें संपूर्ण जीवन की पुनर्चना संभव नहीं होती। कभी-कभी लक्ष्य व्यक्ति के जीवन का कोई भाग या खंड भी जीवनी का रूप ले लेता है। आरंभिक दौर में जीवनियों में व्यवस्था और अनुशासन होता था। जीवनीकार व्यक्ति के समग्र जीवन को रूपायित करते थे, लेकिन अब हालात बदल गए हैं। जीवनीकार अब लक्ष्य व्यक्ति के जीवन की पुनर्चना में स्वच्छंद रहते हैं। वे व्यक्ति के जीवन के किसी एक या एकाधिक खंडों और पहलुओं को जीवनी का आधार बनाते हैं। नई जीवनियों में लक्ष्य व्यक्ति का जीवन भी क्रमशः विकसित नहीं होता। अब कई जीवनीकार व्यक्तित्व को पहले प्रस्तुत कर फिर घटनाओं के संस्मरणों से, उसे पुष्ट करते हैं। स्पष्ट है कि जीवनी में संपूर्ण जीवन आए, ऐसा कोई नियम नहीं है। यह

जीवनीकार की दृष्टि और विवेक पर निर्भर है कि वह लक्ष्य व्यक्ति के जीवन से क्या ले और क्या छोड़ दे।

जीवनी में वस्तुपरकता बहुत आवश्यक तत्त्व है। जीवनी इस कारण इतिहास के निकट लगती है। जीवनीकार अपने लक्ष्य व्यक्ति के जीवन को तथ्यों को आधार पर गढ़ता है। तथ्यों पर निर्भरता ही जीवनी को विश्वसनीय और प्रामाणिक बनाती है। अन्य साहित्यिक विधाओं में कल्पना का सहारा लिया जा सकता है, लेकिन जीवनी में वस्तुपरकता के बिना काम नहीं चलता। वस्तुपरकता तथ्यों से आती है इसलिए तथ्यों की अवहेलना या उनके साथ छेड़छाड़ से जीवनी की प्रामाणिकता संदिग्ध हो जाती है। कथाकार अरुण प्रकाश के अनुसार 'वस्तुपरकता ही अच्छी जीवनी का सबसे बड़ा निकष है, जिसका निर्वहन प्रमाण, तर्क और प्रस्तुति में संतुलन के जरिए किया जाता है।' यह सही है कि जीवनी कुछ हद तक इतिहास है और उसकी प्रामाणिकता और विश्वसनीयता के लिए वस्तुपरकता जरूरी है, लेकिन अंततः जीवनी एक साहित्य रूप है इसलिए इसे नीरस नहीं होना चाहिए। जीवनी में कुछ अंश तक कल्पना या कथातत्त्व भी चाहिए, लेकिन यह तथ्य के इदगिर्द ही रहे, तो अच्छा है। तथ्य जीवनी की रीढ़ है, लेकिन 'केवल तथ्य किसी चरित नायक को जीवंत नहीं बना सकते बल्कि कोरे तथ्य जीवनी को उबाऊ बनाएंगे। इसके लिए जीवनीकार कुछ तथ्यों को छोड़ता ही नहीं, तथ्यों के अंबार में से सटीक तथ्य चुनता भी है। वह तथ्यों के क्रम में भी हेर-फेर करता है।' लिट्टन स्ट्राचे ने एक जगह लिखा भी है कि 'समझदारी जीवनी का बेहतर पक्ष नहीं है।'

जीवनी में चरित्र-चित्रण का बहुत महत्त्व है। जीवनीकार लक्ष्य व्यक्ति के अंतर्बाह्य, दोनों रूपों को उजागर करता है। यह आवश्यक है कि जीवनीकार अपने लक्ष्य व्यक्ति के शरीर, मुद्रा आदि के साथ उसमें अंतर्निहित भय, ऊर्जा, उल्लास और अवसाद को भी चित्रित करे। जीवनी में चरित्र का क्रमिक विकास होता है। जीवनीकार अपने लक्ष्य व्यक्ति के जीवन के विभिन्न चरणों का क्रमशः इस तरह से वर्णन करता है कि उसका चरित्र निरंतर विकसित होकर अपनी अंतिम परिणति तक पहुंचता है। जीवनीकार लक्ष्य व्यक्ति की चारित्रिक विशेषताओं का केवल नामोल्लेख नहीं करता बल्कि वह घटनाओं के वर्णन से उसकी चरित्रिक विशेषताओं को उजागर करता है। पहले जीवनियां केवल महान और सकारात्मक चरित्रों की लिखी जाती थी और जीवनीकार लक्ष्य व्यक्ति की लघुता और दोषों पर नहीं जाते थे, लेकिन अब ऐसा नहीं है। जीवनीकार अब महानता के झांसे में नहीं आता, वह चरित नायक का शिकार करता है। आस्कर वाइल्ड ने जीवनीकारों के दृष्टिकोण में आए इस बदलाव की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि 'पहले हम अपने नायकों को मानक बनाकर पेश किया करते थे जबकि आधुनिक तरीका उन्हें अक्षील सिद्ध करने का है।' जीवनीकार लक्ष्य व्यक्ति के चरित्र निर्धारण में कभी-कभी मनोविक्षेपण का इस्तेमाल करता है। शरतचंद्र के जीवन पर आधारित *आवारा मसीहा* में विष्णु प्रभाकर कहीं-कहीं ऐसा ही करते हैं।

स्वविवेक और स्वेच्छा से लिखी गई जीवनियां दबाव से लिखी गई जीवनियों की तुलना में अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय होती हैं। मध्यकाल और उससे पहले, राजा, सामंत आदि अपने आश्रित रचनाकारों से अपनी प्रशस्तिपरक जीवनियां लिखवाते थे। यह काम लोभवश दबाव में होता था, इसलिए इनमें सच्चाई कम, अतिरंजना ज्यादा होती थी। रासो और चरित रचनाएं इसी श्रेणी की रचनाएं हैं। स्व विवेक या स्वेच्छा से लिखी गई कई रचनाएं भी मध्यकाल और उससे पहले की हैं। हिंदी की अधिकांश मध्यकालीन साहित्य संबंधी आधारभूत सामग्री यहीं से मिलती है। राजनेताओं, उद्योगपतियों, क्रिकेट खिलाड़ियों, फिल्म अभिनेताओं आदि की जीवनियां स्वविवेक से कम, दबाव में अधिक लिखी गई हैं।

लक्ष्य व्यक्ति के जीवन के संबंध में जानकारी के स्रोत जितने ज्यादा और विविध होंगे, जीवनी उतनी ही असरदार बनेगी। जीवनीकार अक्सर इस संबंध में प्रकाशित अन्य पुस्तकों और लेखों का सहयोग लेता है। वह लक्ष्य व्यक्ति की डायरी, पत्राचार आदि का भी उपयोग करता है। वह उसके मित्र-परिचितों से साक्षात्कार-भेंट और उससे संबंधित नगरों-स्थानों आदि का भ्रमण करता है। यह लक्ष्य व्यक्तित्व पर निर्भर करता है कि उससे संबंधित सामग्री कहां मिलेगी? राजनीतिक व्यक्तित्वों का जीवन सार्वजनिक होता है इसलिए उनसे संबंधित दस्तावेज खूब मिल जाते हैं। गांधी- नेहरू के जीवन के संबंध में हमारे यहां दस्तावेज खूब मिलते हैं। साहित्यकारों का जीवन रहस्यमय होता है और उनके व्यक्तिगत जीवन के संबंध में जानकारियां कम मिलती हैं। जीवनीकार से यह अपेक्षित है कि वह अपनी स्रोत सामग्री का इस्तेमाल बहुत ध्यानपूर्वक करे। इसमें अनेक मौन सत्य और मुखर झूठ भरे होते हैं, जिनकी निर्ममता से छानबीन बहुत जरूरी है। अमृतराय ने *कलम का सिपाही* और विष्णु प्रभाकर ने *आवारा मसीहा* में स्रोत सामग्री की छानबीन और शोध बहुत अच्छी तरह से किए। इसका उपयोग भी इन्होंने बहुत कौशल और रचनात्मक ढंग से किए हैं।

पश्चिम में जीवनी लेखन और उसकी स्वीकार्यता को लेकर हमेशा से माहौल उत्साह का रहा है, जबकि हमारे यहां इस संबंध में शुरू से ही गहरी उदासीनता है। विद्वान इसका कारण हमारी अलग संस्कृति को मानते हैं। दूसरों के व्यक्तिगत जीवन में दिलचस्पी अंग्रेजी समाज में पागलपन की हद तक है, जबकि भारतीय एक-दूसरे के निजी जीवन में ताक-झांक को गलत मानते हैं। इसके अलावा भारतीय समाज मिथक-विदग्ध समाज है। इतिहास में उसकी दिलचस्पी बहुत कम है और जीवनी मिथक नहीं, इतिहास है। हिंदी में जीवनी लेखन की परंपरा राजप्रशस्ति, चरित वर्णन आदि के रूप में बहुत पहले से मौजूद है। रासो रचनाएं भी जीवनी का ही एक रूप हैं। नाभादास की *भक्तमाल* ऐसी ही रचना है, जो मध्यकालीन संत-भक्तों के जीवन के संबंध में आधारभूत सामग्री उपलब्ध कराती है। वल्लभ संप्रदाय के *चौरासी वैष्णवन की वार्ता* और *दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता* रचनाएं जीवनी की श्रेणी में ही रखी जाएंगी। गोकुलनाथ ने वल्लभाचार्य

के चौरासी और विठ्ठलनाथ के दो सौ बावन शिष्यों की वार्ताएं अपने शिष्य हरिराय को सुनाई, जिनको उसने उनके जीवनकाल (1531-1633ई.) में ही लिपिबद्ध कर लिया था। हिंदी में जीवनी लेखन की शुरुआत उपनिवेशकाल में हुई। कार्तिकप्रसाद खत्री ने 1893 में मीराबाई का जीवन चरित्र लिखा। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने पूर्व आधुनिक साहित्यकारों और धर्माचार्यों की जीवनियां लिखीं। दो जीवनीकारों, रमाशंकर व्यास और देवीप्रसाद मुंसिफ का इस क्षेत्र में योगदान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। व्यास ने भारतेंदु की साहित्यिक जीवनी लिखी, जबकि मुंसिफ ने मीरा, रहीम और सूरदास के अलावा बाबर, हुमायूं, शेरशाह, अकबर, राणा सांगा, बीकाजी, जैतसी, मान सिंह आदि की जीवनियां लिखीं। देवीप्रसाद मुंसिफ ने लगभग तीस जीवनियां लिखीं, लेकिन आलोचकों ने उनका कभी संज्ञान नहीं लिया। *मिश्र बंधु विनोद* के लिए मुंशी देवीप्रसाद ने कई जीवनियां उपलब्ध करवाईं। मोतीलाल मेनारिया ने उनके अवदान का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि 'हमारे ख्याल में शिवसिंह सेंगर के बाद मुंशीजी के सिवाय कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ, जिसने अकेले अपने अनुसंधान से, इतनी बड़ी संख्या में हिंदी के प्राचीन कवियों का परिचय हिंदी संसार को दिया हो। एक बात और है, शिवसिंहजी ने अपने ग्रंथ *सरोज* में संग्रहीत कविताओं के रचयिताओं के विषय में जो टिप्पणियां दी हैं, वे अधिकांश अनुमानाश्रित और अनैतिहासिक हैं। लेकिन मुंशीजी ने *कविरत्नमाला* और *महिला मृदुवाणी* आदि में जो जीवन चरित्र लिखे हैं, वे प्रमाणपुष्ट एवं तर्कसंगत हैं और इतिहास की कसौटी पर खरे उतरते हैं।' हिंदी साहित्य में जीवनी को लेकर उदासीनता इस हद तक है कि साहित्यिक दृष्टि से मूल्यवान कुल चार-पांच जीवनियां ही उपलब्ध हैं। नवजागरणकालीन साहित्यकारों-प्रेमचंद, सुभद्राकुमारी चौहान और सूर्यकांत त्रिपाठी निराला पर क्रमशः अमृतराय की *कलम का सिपाही*, सुधा चौहान की *मिला तेज से तेज* और रामविलास शर्मा की *निराला की साहित्य साधना* नामक जीवनियां ही साहित्यिक महत्व की हैं। गहरी संबद्धता और मनोयोग से लिखी ये जीवनियां इन युगांतरकारी साहित्यकारों के जीवन और साहित्य की हमारी समझ को विस्तृत और गहरा करती हैं। विख्यात बांग्ला साहित्यकार शरतचंद्र के नाटकीय और घटनापूर्ण जीवन पर एकाग्र विष्णु प्रभाकर की *आवारा मसीहा* और कवि आलोचक मुक्तिबोध के जीवन संघर्ष पर आधारित विष्णुचंद्र शर्मा की *मुक्तिबोध की आत्मकथा* भी ऐसी ही उल्लेखनीय रचनाएं हैं।

संस्मरण फिलहाल एक लोकप्रिय साहित्यिक विधा है। संस्मरण लिखने की इन दिनों होड़ लगी हुई है। हिंदी में भी संस्मरण खूब लिखे जा रहे हैं। संस्मरणों की बढ़ती हुई लोकप्रियता पर टिप्पणी करते हुए विलियम जिंसर लिखते हैं कि 'यह संस्मरण का युग है। बीसवीं सदी के अंत से पहले अमरीकी धरती पर व्यक्तिगत आख्यान की ऐसी जबर्दस्त फसल कभी नहीं हुई थी। हर किसी के पास कहने के लिए एक कथा है और हर कोई कथा कह रहा है।' हिंदी के रचनाकार भी संस्मरण लिखने में हाथ आजमा रहे हैं। अभी कुछ समय पहले तक हिंदी में महादेवी वर्मा ही संस्मरण का पर्याय मानी जाती थीं,

लेकिन अब विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी, रवींद्र कालिया, काशीनाथ सिंह आदि इस क्षेत्र में सक्रिय हैं और अपनी अलग पहचान बना रहे हैं।

संस्मरण वर्तमान में रहते हुए अतीत के बारे में लिखा जाता है इसलिए अतीत और वर्तमान दोनों से संबंधित होता है। संस्मरण स्मृति आधारित होता है। संस्मरण लेखक अपने जीवन से संबंधित किसी घटना, व्यक्ति, अनुभव आदि की स्मृति के आधार पर पुनर्चना करता है। लेखक स्मृतियों को खोजता-खंगालता है और फिर उनमें से किसी एक पर अपने को एकाग्र करता है। यह एकाग्रता व्यक्ति, घटना आदि किसी पर भी हो सकती है। संस्मरण में संपूर्ण जीवन नहीं होता, इसमें जीवन का कोई खंड या टुकड़ा ही आ पाता है। जीवन का कोई खास समय या घटना या व्यक्ति संस्मरण में उभरकर सामने आता है।

संस्मरण और सच्चाई में गहरा संबंध है। सच्चाई संस्मरण की पहचान और विशेषता है। पाठक संस्मरण में दिलचस्पी इसलिए लेते हैं, क्योंकि यह सच के करीब माना जाता है। संस्मरण में सच्चाई या यथार्थ स्मृति के माध्यम से आती है और कुछ लोगों का मानना है कि स्मृति में सच्चाई दब या कट-छंट जाती है इसलिए संस्मरण सच नहीं होता। संस्मरण स्मृति वर्तमान और अतीत का स्मरण है इसलिए यह वर्तमान से आविष्ट और प्रभावित होता है और सच इसमें विकृत सा हो जाता है। स्मृति और सच कथाकार अरुण प्रकाश के शब्दों में 'एक दूसरे के रिश्तेदार जरूर हैं, पर ये जुड़वां संतानें तो कतई नहीं हैं।' स्मृति पूर्ण सत्य नहीं है इसलिए संस्मरण में सत्य नहीं, अक्सर सत्यांश होता है। विख्यात अंग्रेजी उपन्यासकार एंथनी पॉवेल ने इसीलिए एक जगह लिखा है कि 'संस्मरण कभी भी पूरी तरह सच नहीं हो सकते, क्योंकि बीती हुई हर बात, हर घटना, हर परिस्थिति को संस्मरण में शामिल करना संभव नहीं है।'

संस्मरण सहित सभी कथेतर गद्य विधाएं अपनी वस्तुपरकता के लिए जानी जाती हैं। कथाप्रधान साहित्यिक विधाएं, जैसे कहानी, नाटक, उपन्यास आदि में कल्पना सर्वोपरि होती है, लेकिन संस्मरण पूरी तरह कल्पना पर निर्भर नहीं होते। संस्मरण में तथ्य और वस्तुपरकता न हो तो, उसका महत्त्व कम हो जाएगा। यह सही है कि वर्तमान के राग-विराग और सरोकार संस्मरण में अतीत को पूरी तरह तथ्यात्मक और वस्तुपरक नहीं रहने देते, लेकिन पाठक फिर भी उसमें तथ्यों की तलाश करता ही है। संस्मरण लेखक का आत्म, उसका दृष्टिकोण अक्सर यथार्थ की वस्तुपरकता को प्रभावित करता है। यही कारण है कि दो भिन्न संस्मरणकार एक ही यथार्थ को कई बार अलग-अलग ढंग से प्रस्तुत करते हैं। कुछ लोगों के अनुसार तो संस्मरण वस्तुपरक नहीं, आत्मपरक लेखन है।

संस्मरण कलात्मक कथा साहित्य की श्रेणी में नहीं आते, लेकिन इसके शिल्प ढांचे का इस्तेमाल इनमें होता है। संस्मरण में रोचकता और पठनीयता बनाए रखने के लिए लेखक अक्सर कथा तत्वों का इस्तेमाल करता है। वह संवाद, नाटकीयता और भाषाई कौशल का इस्तेमाल करके संस्मरण को पाठकों के लिए रोचक और पठनीय

बनाता है। उर्दू में इस्मत चुगताई और हिंदी में काशीनाथ सिंह, विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी आदि के संस्मरणों में कथा तत्वों का खूब इस्तेमाल हुआ है। इस्मत के संस्मरण अपनी नाटकीयता और भाषाई कौशल के कारण बहुत रोचक और पठनीय हैं। काशीनाथ सिंह के संस्मरणों में रोचकता के तत्व बहुत अधिक हैं। उनकी संस्मरण पुस्तक *काशी का अस्सी* आद्यंत पठनीय है। चरित्रांकन, वातावरण निर्माण आदि भी कथात्मक विधाओं के तत्व हैं, जिनका प्रयोग संस्मरणों में होता है। महादेवी के संस्मरणों में चरित्रांकन बहुत अच्छी तरह से हुआ है। यह सही है कि संस्मरण में तथ्य और यथार्थ जरूरी है, लेकिन कथात्मक विधाओं के संवाद, नाटकीयता, चरित्रांकन, भाषाई कौशल आदि तत्वों से, इनमें रोचकता और पठनीयता आ जाती है।

संस्मरण का स्वरूप और चरित्र अब बहुत बदल गया है। कभी संस्मरण का उद्देश्य प्रेरणा होता था। विख्यात और महान व्यक्ति अपने जीवन के संस्मरण प्रेरणा देने के लिए लिखते थे लेकिन अब स्थिति ऐसी नहीं है। अब संस्मरण जीवन के अज्ञात प्रसंगों-प्रकरणों के अनावरण की विधा हो गई है। अब कई बार संस्मरण का उपयोग लोग दृश्य पर अपनी उपस्थिति को ध्यानाकर्षक बनाने के लिए भी करते हैं। वे लोग जो विमर्श में नहीं हैं, इसमें अपनी वापसी के लिए भी संस्मरण लिखते हैं। विख्यात लेखक दनियल हेरिस के अनुसार 'संस्मरण खुद के हाशियाकरण से निबटने की कोशिश है।' हिंदी की लोकप्रिय साहित्यिक पत्रिका *हंस* में प्रकाशित *मेरे विश्वासघात* श्रृंखला के अंतर्गत प्रकाशित संस्मरण कमोबेश ऐसे ही हैं। संस्मरण अब साहित्य की परिधि से निकलकर जीवन के दूसरे क्षेत्रों में पहुंच गए हैं। फिल्म अभिनेता, क्रिकेट खिलाड़ी, उद्योगपति और राजनेता भी अब अपने संस्मरण लिख रहे हैं।

संस्मरण ऐसी साहित्यिक विधा है, जिसका कहानी, उपन्यास, नाटक आदि से आदान-प्रदान और अंतर्क्रिया का रिश्ता है। आत्मकथा और डायरी तो इसकी सहोदर विधाएं हैं। आत्मकथा तो एक तरह से संस्मरण ही है। यह अवश्य है कि संस्मरण, आत्मकथा की तुलना में बहुत छोटा होता है। कुछ लोग संस्मरण को आत्मकथा का फलैश कहते हैं। जीवनी भी संस्मरण की साथी विधा है, क्योंकि दोनों अतीत पर एकाग्र हैं। संस्मरण खुद लेखक लिखता है, जबकि जीवनी दूसरे के द्वारा लिखी जाती है। रेखाचित्र तो कभी-कभी संस्मरण जैसे ही लगते हैं। यों रेखाचित्र में स्टिल लाइफ होती है, लेकिन बहुत हद तक यह संस्मरण जैसा हो जाता है। डायरी पश्चिम की लोकप्रिय साहित्यिक विधा है, लेकिन हिंदी में अभी इसकी जड़ें मजबूत नहीं हुई हैं। यह भी संस्मरण की निकट विधा है, अलबत्ता इसका पृथक अनुशासन है। यह संस्मरण की तुलना में लंबी होती है और इसमें लेखक वर्तमान के साथ आगे बढ़ता है।

हिंदी में शुरू से ही संस्मरण लिखे जाते रहे हैं। अन्य कथेतर गद्य विधाओं की तुलना में संस्मरण की हिंदी में समृद्ध परंपरा है। आरंभिक संस्मरण लेखकों में पद्मसिंह शर्मा, जनार्दन प्रसाद द्विज और शांति प्रसाद द्विवेदी हैं, जिनकी *पद्मराग* (1929), *चरित्ररेखा*

(1943) और *पंच चिह्न* (1946) नामक संस्मरण रचनाएं उल्लेखनीय हैं। बनारसीदास चतुर्वेदी और रामवृक्ष बेनीपुरी ने भी संस्मरण लिखे। चतुर्वेदी के *संस्मरण* तथा *हमारे अपराध* शीर्षक कृतियों में उनकी संस्मरणात्मक रचनाएं संकलित हैं। हिंदी में संस्मरण को पहचान महादेवी वर्मा ने दी। उनकी दोनों कृतियों-*स्मृति की रेखाएं* (1943) और *अतीत का चलचित्र* (1941) को हिंदी जगत में व्यापक सम्मान मिला। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर की कृति *भूले हुए चेहरे* तथा *दीपजले शंख बजे* में कतिपय अच्छे और आकर्षक संस्मरण संकलित हैं। गुलाबराय की कृति *मेरी असफलताएं* को कतिपय विद्वानों ने संस्मरणात्मक निबंध की कोटि में रखा है। रामवृक्ष बेनीपुरी की कृति *माटी की मूरतें* में जीवन में अनायास मिलने वाले सामान्य व्यक्तियों का चित्रण है। मोहनलाल महतो वियोगी, प्रभाकर माचवे और विष्णु प्रभाकर ने संस्मरण लिखे हैं। आजादी के बाद संस्मरण लेखन में गति आई है। इस क्षेत्र में उल्लेखनीय काम राजेंद्र यादव, कृष्णा सोबती, रवींद्र कालिया, दूधनाथ सिंह और काशीनाथ सिंह ने किया है। कृष्णा सोबती की *हम हशमत*, राजेंद्र यादव की *औरों के बहाने*, रवींद्र कालिया की *सृजन के साथी* और दूधनाथ सिंह की *लौट आ ओ धार* नामक संस्मरण कृतियों की साहित्यिक जगत में खासी चर्चा हुई है। हिंदी संस्मरण विधा को नए रूप और चरित्र के साथ, इधर काशीनाथ सिंह ने प्रस्तुत किया है। उनकी रचना *याद हो कि न याद हो* और *काशी का अस्सी* ने संस्मरण के स्वरूप और आस्वाद को काफी हद तक बदल दिया है। विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी की संस्मरण पुस्तक *नंगातलाई का गांव* की भी खूब चर्चा हुई है।

हिंदी में आत्मकथा भी अन्य गद्य विधाओं की तरह आधुनिक युग की देन है। युग-निर्माता तथा युगांतरकारी व्यक्तियों को जानने-समझने में आत्मकथाएं सबसे अधिक मदद करती हैं। इनके द्वारा हम, उन व्यक्तियों के निजी जीवन के आत्म-संघर्ष को, उनके समय की ऊहापोह और उथल-पुथल को जान सकते हैं। उनके अनुभवों से हम अपने समय और समाज को सही दिशा दे सकते हैं। आत्मकथा का वर्तमान रूप नया जरूर है लेकिन इसका अस्तित्व बहुत पहले से है। चीन में ईसा पूर्व की दूसरी शती में इतिहासकार सिमा ओयन ने अपने ग्रंथ *सिज्जी* में अपने जीवन का कुछ वृत्तांत भी लिखा था। मध्यकालीन हिंदी रचनाओं में इस तरह के उल्लेख मिलते हैं। तुलसी ने *विनय पत्रिका* और मीरां ने अपने पदों में अपने व्यक्तिगत जीवन से संबंधित कुछ संकेत दिए हैं। अन्य गद्य विधाओं की तरह अब इसका भी एक विधायी अनुशासन और स्वरूप बन गया है। व्यक्ति और समाज के जीवन में बढ़ती जटिलताओं से रूबरू होने के लिए रचनाकार समय-समय पर विधायी अनुशासन को तोड़ते भी रहते हैं। आत्मकथा आत्मकथाकार द्वारा लिखा गया अपने जीवन का वृत्तांत है। जब व्यक्ति स्वयं अपने जीवन के संबंध में विस्तार से लिखता है, तो ऐसी रचना को आत्मकथा कहा जाता है। यह किसी व्यक्ति द्वारा लिखी गई खुद की जीवनी है। प्रकाशन की दूसरी साहित्यिक विधाओं-संस्मरण, डायरी, पत्र आदि से भी आत्मकथा का गहरा संबंध है। इन सभी रूपों का अपना अलग-अलग स्वरूप और

अनुशासन है। इन सभी में आत्म की मुखर उपस्थिति जरूर रहती है इसलिए ये आत्मकथा से बहुत दूर और अलग नहीं हैं। आत्मकथा एक विशेष प्रकार का जीवन प्रस्तुत करती है जो पुनस्मरण के दौरान चेतन-अवचेतन की वर्जनाओं और विकृतियों में आकार लेता है इसलिए उपन्यासकार ग्राहम ग्रीन ने इसे 'जीवन का एक ढंग' कहा है और अपनी आत्मकथा नाम भी यही रखा है।

आत्मकथा सचेत भाव से लिखी जाती है, इसलिए इसका कोई न कोई प्रयोजन जरूर होता है। कुछ महान व्यक्ति आत्मकथा इसलिए लिखते हैं कि वे अपने व्यतीत जीवन का निर्मम और तटस्थ भाव से आत्मविश्लेषण कर सकें। वे ऐसा करके अपने अतीत का विश्लेषण और मूल्यांकन करते हैं। वे देखते हैं कि उन्होंने अपने अतीत में जो निर्णय लिए, जो काम किए, वे समय की कसौटी पर कितने खरे उतरे। नेहरू ने अपनी आत्मकथा *मेरी कहानी* यही सोचकर लिखी। इसकी प्रस्तावना में उन्होंने लिखा, 'इस किताब को लिखने का खास मकसद यह था कि 'मैं पिछले दिनों हिंदुस्तान की उन घटनाओं का विवेचन भी कर लेना चाहता था, जिनसे मेरा ताल्लुक रहा है, ताकि उनके बारे में स्पष्टता के साथ सोच सकूं। आत्मजिज्ञासा के भाव से मैंने इसे शुरू किया और बहुत हद तक यही बराबर जारी रखा है।'

आत्मकथा लिखने के पीछे कहीं यह मंशा भी रहती है कि अन्य लोग इससे प्रेरित होकर अपने जीवन को बेहतर ढंग से गढ़ सकें। रवींद्रनाथ ने लिखा भी है कि 'महान व्यक्तियों का व्यक्तित्व एवं कृतित्व आम आदमी के लिए दिशा-बोध का काम करता है।' अक्सर ऐसा होता भी है। हम अपने जीवन के भीतर इस तरह डूबे हुए रहते हैं कि उसकी बागडोर पूरी तरह हमारे हाथ में नहीं होती। दूसरों के जीवन को हम अपेक्षाकृत तटस्थ भाव से देखते हैं, इसलिए उसके मोड़-तनावों को बेहतर ढंग से समझ सकते हैं और अपने जीवन को बेहतर बनाने के लिए इस समझ का उपयोग कर सकते हैं। यों तो हर जीवन विशिष्ट है। कोई जीवन किसी का आदर्श नहीं होता, लेकिन उस महान जीवन को दृष्टांत मानकर प्रेरणा तो ली ही जा सकती है। महात्मा गांधी ने इसीलिए अपनी आत्मकथा में लिखा है कि 'कोई मेरे लेखों को प्रमाणभूत न समझे। मैं तो सिर्फ यह चाहता हूँ कि उनमें बताए प्रयोगों को दृष्टांत रूप मानकर, सब अपने-अपने प्रयोग यथाशक्ति और यथामति करें।' महान साहित्यकारों ने केवल कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए भी आत्मकथाएं लिखी हैं।

आत्मकथा की कुछ विधायी खासियतें भी हैं। आत्मकथा में आत्म और उसका संघर्ष तो अपेक्षित है ही। डब्ल्यू एच. ऑडेन के अनुसार- 'हर आत्मकथा का संबंध दो चरित्रों से होता है।' आत्मकथा इतिवृत्तात्मक वृत्तांत भर नहीं होता। जैसे व्यक्ति का जीवन सीधी रेखा नहीं होता, उसकी कथा भी सीधी, सरल और सपाट नहीं होती। जीवन में निर्णय-अनिर्णय, दुविधा-संकोच और सुख-दुख की उथल-पुथल चलती रहती है। स्व का अंतः संघर्ष आत्मकथा में आना चाहिए। इसका आशय यह नहीं है कि घटनापूर्ण और

वस्तुमय बाह्य जीवन इसमें नहीं आता। दरअसल अंतः संघर्ष इस बाह्य जीवन में ही अभिव्यक्त होता है। आत्मकथा में आत्मसंघर्ष के साथ-साथ कथा भी जरूरी है। ग्रास फ्लेमिंग के अनुसार 'आपका जीवन आपसे ज्यादा दिलचस्प होता है इसलिए आत्मकथाकार को अपना जीवन-वृत्तांत कुछ इस तरह बयान करना चाहिए कि पाठक को उसमें कहानी जैसा मजा आए।' मतलब यह कि उसमें कहानी का जादू-कुतूहल और रोचकता होनी चाहिए। लंबे विश्लेषण-विवेचन और घटनाओं के ब्यौरे आत्मकथा को दस्तावेजी बना देते हैं। उर्दू की विख्यात कथाकार इस्मत चुगताई की आत्मकथा *कागजी* है *पैरहन* इस दृष्टि से एक आदर्श आत्मकथा है। इसमें जीवंत आत्मसंघर्ष को जादुई कथाविधान में बयान किया गया है।

आत्मकथा लिखते समय पूरी तरह आत्मनिरपेक्ष बने रहना मुश्किल काम है। गांधीजी ने इसलिए इसे तलवार की धार पर चलने जैसा कठिन कर्म कहा है। अक्सर आत्मकथाकार सचेत रहकर आत्मकथा लिखते समय, उन प्रसंगों-घटनाओं का जिक्र नहीं करते, जो खास समय और समाज में खराब मानी जाती हैं। कभी-कभी जब उनका आत्म प्रबल होता है तो यह प्रबलता आत्ममुग्धता की तरफ जाती है। आत्ममुग्धता से किया हुआ कोई भी विश्लेषण और मूल्यांकन सही नहीं होता। अहम की प्रबलता आम बात है। इसी भय से क्रांतिकारी और चिंतक एम.एन.राय ने अपनी आत्मकथा ही नहीं लिखी। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि आत्मकथा में सत्य का विकृत रूप आता है। फॉन एम. ब्रांडी ने एक जगह लिखा भी है कि 'व्यक्ति की स्मृति, उसकी वर्तमान की रुचियों के अनुरूप, उसके अतीत का विरूपीकरण होती है, और कोई भी सर्वाधिक ईमानदार आत्मकथा व्यक्ति उस वक्त क्या था, से ज्यादा यही प्रतिबिंबित कर सकती है कि, वह अब क्या हो गया है।'

आत्मकथा में आत्मतत्त्व की निरंतर सक्रियता अपेक्षित है, लेकिन यह मुश्किल काम है। आत्म का आख्यान कभी-कभी केवल दूसरों का आख्यान बनकर रह जाता है। ऑगस्तो रोआ बास्तोस के अनुसार 'वो हर कोई, जो अपनी जिंदगी से जुड़ना चाहता है, तत्काल में विलुप्त हो जाता है। आप सिर्फ दूसरों के बारे में ही बात कर सकते हैं।' आत्मकथा का फॉर्म तय नहीं किया जा सकता, अलबत्ता इस दिशा में कई कोशिशें हुई हैं। दरअसल हर आत्मकथाकार अपने आत्म वृत्तांत के लिए अपना फॉर्म खुद गढ़ता है। जॉन बर्गर ने तो यहां तक लिखा है कि 'आत्मकथा की शुरुआत ही अकेले होने के एहसास से होती है। यह एक लावारिस फॉर्म है।'

आत्मकथा और संस्मरण में अंतर है। आत्मकथा एक दीर्घकाय स्वलिखित जीवन-वृत्तांत है, जबकि संस्मरण घटना या व्यक्ति पर एक एकाग्र छोटी रचना है। आत्मकथा में स्व केंद्र में है। यदि इसमें इतर भी है तो पूरी तरह इस स्व से संबद्ध और इसको व्यक्त करने के लिए है, जबकि संस्मरण में इतर मतलब, दूसरा प्रमुख है। जीवनी किसी महापुरुष व्यक्ति पर लिखी किसी अन्य व्यक्ति की रचना है। जीवनीकार अपने लक्ष्य व्यक्ति के जीवन के संबंध में विभिन्न स्रोतों से जानकारियां एकत्र करता है और उन्हें

व्यवस्थित रूप देकर उस व्यक्ति की जीवनी लिखता है। डायरी में दैनंदिन की घटनाओं का अंकन किया जाता है, इसमें घटनाओं पर तत्काल प्रतिक्रिया होती है। डायरी आत्मपरक ही हो, यह भी जरूरी नहीं है। आधुनिक जीवन जैसे-जैसे जटिल होता जा रहा है, आत्मकथा, संस्मरण, डायरी आदि के विधागत दायरे टूटते प्रतीत हो रहे हैं। इधर हिंदी में ऐसी कई रचनाएं आ गई हैं, जिन्हें किसी विधायी चौखटे में नहीं रखा जा सकता। गगन गिल की रचना *दिल्ली में उनींदे* इसका अच्छा उदाहरण है।

हमारे यहां आत्मकथाएं मुख्यतया आधुनिककाल में लिखी गईं। आधुनिक हिंदी का विकास बीसवीं सदी में हुआ। यह आधुनिक शिक्षा का माध्यम आजादी के बाद बनी इसलिए आजादी के आंदोलन में सक्रिय कुछ महापुरुषों ने अपनी आत्मकथाएं अंग्रेजी में भी लिखीं। हिंदीतर भारतीय भाषाओं में उर्दू, बांग्ला, पंजाबी, मराठी और कन्नड आदि में भी आत्मकथाएं लिखी गईं। राजनेताओं द्वारा लिखी गई आत्मकथाओं में महात्मा गांधी की *सत्य के प्रयोग*, जवाहरलाल नेहरू की *मेरी कहानी*, राजेंद्र प्रसाद और अब्दुल कलाम की आत्मकथाएं खासतौर से लोकप्रिय हुई हैं। अन्य राजनेताओं में राधाकृष्णन, जयप्रकाश नारायण और मोरारजी देसाई की आत्मकथाएं प्रकाशित हुई हैं। विख्यात क्रांतिकारियों में से सुभाषचंद्र बोस, गणेशशंकर विद्यार्थी और रामप्रसाद बिस्मिल ने भी अपनी आत्मकथाएं लिखी हैं। हिंदीतर भारतीय भाषाओं में बांग्ला में लिखित रवींद्रनाथ टैगोर की आत्मकथा *जीवन स्मृति*, उर्दू में लिखित इस्मत चुगताई की *कागजी है पैरहन* और अमृता प्रीतम की *रसीदी टिकट* का विशेष महत्त्व है। हिंदी में जैन कवि बनारसीदास की *अर्थकथा* की गणना पहली आत्मकथा के रूप में होती है। आधुनिककाल के प्रारंभिक चरण में लिखी गई भारतेन्दु हरिश्चंद्र की *कुछ आप बीती-कुछ जग बीती*, स्वामी श्रद्धानंद की *कल्याण पथ का पथिक*, पांडेय बेचन शर्मा की *अपनी खबर* और शिवपूजन सहाय की *वे दिन वे लोग*, जैसी आत्मकथाएं प्रमुख हैं। आगे चलकर आत्मकथा-लेखन में प्रौढ़ता आई। राहुल सांकृत्यायन ने विस्तार से *मेरी जीवन यात्रा* नाम से अपनी आत्मकथा लिखी। कवि हरिवंशराय बच्चन ने चार खंडों-*क्या भूलूं, क्या याद करूं, नीड का निर्माण फिर, बसेरे से दूर और दशद्वार से सोपान तक* में अपनी आत्मकथा लिखी, जो काफी लोकप्रिय हुई। हिंदी के कुछ साहित्यकारों, अज्ञेय, फणीश्वरनाथ रेणु, हरिशंकर परसाई ने व्यवस्थित आत्मकथाएं तो नहीं लिखीं, लेकिन यहां-वहां अपना आत्म-वृत्तांत लिखे, जो बाद में संकलित होकर प्रकाशित हुए।

आधुनिक कथेतर गद्य विधाओं में यात्रा वृत्तांत भी प्राचीन साहित्यिक विधा है। समय के साथ इसके स्वरूप और चरित्र में बदलाव होते रहे हैं। इतिहास, आत्म चरित्र आदि के प्रति अनास्था और उदासीनता के कारण भारत में यात्रा वृत्तांतों की समृद्ध और निरंतर परंपरा नहीं मिलती। विश्व के अन्य देशों में स्थिति इससे भिन्न है। वहां यात्रा और उसके अनुभवों को लिपिबद्ध करने का उत्साह है। फाहियान, ह्वेत्सांग, इब्न बतूता, अलबरूनी, मार्कोपोलो बर्नियर आदि कई साहसी यात्री हुए हैं, जिन्होंने दूरस्थ देशों और

स्थानों की अपनी यात्राओं के रोमांचक वृत्तांत लिखे। आज ये वृत्तांत धरोहर की तरह हैं, जिनसे हमें अपने अतीत समझने में मदद मिलती है। यों तो हमारे देश में *रामायण*, *हर्ष चरित्र*, *कादंबरी* आदि में यात्रा वृत्तांत के लक्षण मिल जाएंगे, लेकिन हिंदी में सही मायने में यात्रा वृत्तांत की शुरुआत उपनिवेशकाल में हुई। अंग्रेजी साहित्य के संपर्क से हिंदी में साहित्यिक यात्रा वृत्तांत लिखे जाने लगे और धीरे-धीरे इनका विधायी ढांचा भी अस्तित्व में आया।

यात्रा वृत्तांत क्या है, इसे लेकर कई धारणाएं मौजूद हैं। कुछ लोगों के लिए यह आख्यान है, कुछ लोग इसे वृत्तांत कहते हैं, जबकि कुछ अन्य के अनुसार यह भी एक किस्म का संस्मरण है। यात्रा मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अज्ञात के प्रति मनुष्य मन में स्वाभाविक जिज्ञासा है, जो उसे नए और दूरस्थ स्थानों की यात्रा के लिए प्रेरित करती है। मनुष्य यात्राएं करता है और यात्रा के अपने अनुभवों को लिपिबद्ध भी करता है, जो यात्रा वृत्तांत या यात्रा आख्यान कहे जाते हैं। लेखक अपने विश्वास और धारणाओं के साथ यात्रा पर निकलता है और नयी जगहों और लोगों के बीच जाता है। इस तरह की यात्रा धारणाओं और विश्वासों में उथल-पुथल और अंतःक्रिया का कारण बनती है। यात्री इस उथल-पुथल और अंतःक्रिया की पहचान कर दर्ज करता है। यात्रा वृत्तांत की परिभाषा करते हुए कथाकार अरुण प्रकाश लिखते हैं कि 'यात्रा आख्यान यात्रा के क्रम में हुई घटनाओं, दृश्यों और यात्री के इन अनुभवों के प्रति निजी भावनाओं का वर्णन है।' डॉ. रघुवंश एक साहित्यिक विधा के रूप में यात्रा वृत्तांत का संबंध उसके लेखक की सौंदर्य दृष्टि से जोड़ते हैं। उनके अनुसार सौंदर्यबोध की दृष्टि से उल्लास की भावना से प्रेरित होकर यात्रा करने वाले यायावर एक प्रकार से साहित्यिक मनोवृत्ति के माने जा सकते हैं और उनकी मुक्त अभिव्यक्ति को यात्रा वृत्तांत कहा जाता है। इस तरह यात्रा वृत्तांत उसके लेखक का अंतरंग और बहिरंग, दोनों होता है। यात्री वृत्तांत में अपने बहिरंग को अपने अंतरंग के साथ हमारे सामने रखता है। कहा जा सकता है कि 'यात्रा वृत्तांत नई खुलती हुई दुनिया, अनजान लोगों, समाजों, सभ्यताओं, संस्कृतियों, जीवनशैलियों को स्वयं में समेटता है पर लेखक के निजी विकास का भी आईना होता है।'

वस्तुपरकता यात्रा वृत्तांत की जान है। यात्रा वृत्तांत में लेखक जो देखता-खोजता है, उसका यथातथ्य वर्णन करता है। यात्रा वृत्तांत भी यात्रा के बाद स्मृति के आधार पर लिखे जाते हैं, इसलिए यात्री यात्रा के दौरान तथ्यों को डायरी, नोट बुक आदि में दर्ज कर लेता है। संस्मरण में जो आत्मपरकता होती है या जो कल्पना का पुट होता है, यात्रा वृत्तांत में नहीं होता, इसमें लेखक को अपने स्मृति को वस्तुपरक बनाए रखना पड़ता है। वह सजग रहकर अपने आत्म को स्मृति पर हावी होने से रोकता है। वस्तुपरक होने के कारण यात्रा वृत्तांत में कल्पना के लिए कोई जगह नहीं है। कल्पना कई बार यात्रा वृत्तांत में इस्तेमाल होती है, लेकिन उसकी भूमिका इसमें आटा में नमक की तरह ही है। यात्रा वृत्तांत में कल्पना यथार्थ को विस्थापित नहीं करती। कुछ लोग यात्रा वृत्तांत को उसकी

तथ्य निर्भरता और वस्तुपरकता के कारण साहित्य नहीं मानते। विख्यात लेखक मेरी किंग्सले ने एक जगह लिखा भी है कि 'यात्रा आख्यान की पुस्तक से कोई साहित्य की अपेक्षा नहीं करता।'

यात्रा वृत्तांत के लेखक का जीवन के प्रति नजरिया अक्सर बहुत मस्ती और फक्कड़पन का होता है। एक ही प्रकार के रोजमर्रा जीवन से, उसे ऊब होती है और स्थिर प्रकार का जीवन उसे बांधता है। यह बात कमोबेश, सभी घुमक्कड़ यात्रा वृत्तांत लेखकों ने स्वीकार की है। विख्यात घुमक्कड़ लेखक राहुल सांकृत्यायन के अनुसार 'जिसने एक बार घुमक्कड़ धर्म अपना लिया, उसे विश्राम कहाँ? आखिर में हड्डियाँ टूटते ही बिखर जाएंगी।' आजीवन यायावर रहे अज्ञेय ने भी यही बात दूसरे शब्दों में कही है। वे लिखते हैं, 'यायावर को भटकते हुए चालीस बरस हो गए, किंतु इस बीच न तो वह अपने पैरों तले घास जमने दे सका है, न ठाठ जमा सका है, न क्षितिज को कुछ निकट ला सका है... उसके तारे छूने की तो बात ही क्या। यायावर न समझा है कि देवता भी जहाँ मंदिर में रुके कि शिला हो गए, और प्राण संचार की पहली शर्त है कि गति: गति: गति:।' यात्रा वृत्तांत का रूपबंध निबंध के रूपबंध जैसा होता है, लेकिन कथात्मक गद्य विधाओं के रूपबंध के कुछ तत्व भी इसमें इस्तेमाल किए जाते हैं। यात्रा वृत्तांत का रूपबंध वस्तुपरक और तथ्यात्मक होता है और कभी-कभी इसमें विवरण आत्मपरक भी होते हैं, लेकिन तथ्य विमुख प्रायः नहीं होते। सही मायने में यात्रा वृत्तांत एक तरह का आईना है। 'यात्रा के सुख-दुख, उसकी विश्वसनीयता के उपकरण और सादाबयानी उसका हुनर है।' यात्रा वृत्तांत के रूपबंध में कथात्मक गद्य विधाओं की नाटकीयता, कुतूहल आदि तत्व भी प्रयुक्त होते हैं, लेकिन यह आवश्यक है कि इनके इस्तेमाल से यथार्थ में विकृति नहीं आए। यात्रा वृत्तांत का रूपबंध जब कथात्मक होने लग जाए, तो समझना चाहिए कि लेखक भटक गया है। आधुनिककाल में नहीं पर पहले कथात्मक विधाओं वाले रूपबंध में भी यात्रा वृत्तांत लिखे गए हैं जिनको बाद में वृत्तांत की जगह कथात्मक आख्यान ही माना गया है। यात्रा वृत्तांत एकाधिक शैलियों और रूपों में लिखे गए हैं। कुछ यात्रा वृत्तांत ऐसे हैं, जिनको यात्रोपयोगी साहित्य की श्रेणी में रखा जा सकता है। इनमें स्थानों और देशों के संबंध विस्तृत और उपयोगी जानकारियाँ दी गई हैं। राहुल सांकृत्यायन की *हिमालय परिचय* और मेरी *यूरोप यात्रा* ऐसी ही रचनाएं हैं। इनसे अलग अज्ञेय की *अरे यायावर रहेगा याद* और निर्मल वर्मा की *चीड़ों पर चांदनी* जैसी रचनाओं में महज जानकारियों से आगे इनके लेखकों की अंतर्यात्रा भी दिखाई पड़ती है।

हिंदी में यात्रा वृत्तांत लेखन की जड़ें बहुत मजबूत और गहरी नहीं हैं। कुछ गिनती के लेखक और थोड़ी सी किताबें ही इस संबंध में मौजूद हैं। हिंदी में इस दिशा में पहल भारतेंदु हरिश्चंद्र 1877 में *दिल्ली दरबार दर्पण* लिखकर की। बाद में बाबू शिवप्रसाद गुप्त, मौलवी महेश प्रसाद, रामनारायण मिश्र और सत्यव्रत परिव्राजक ने भी यात्रा वृत्तांत से मिलती-जुलती कुछ रचनाएं लिखीं। इस दिशा में सर्वाधिक उल्लेखनीय काम राहुल

सांस्कृत्यायन ने किया। उन्होंने खूब देशाटन किया और तत्संबंधी अपने अनुभवों और विवरणों को *घुमक्कड़ शास्त्र* और *वोल्गा से गंगा* नामक रचनाओं में लिखा। अज्ञेय भी घुमक्कड़ थे-*एक बूंद सहसा उछली* और *अरे यायावर रहेगा याद* उनके यात्रावृत्तों के प्रसिद्ध संकलन हैं। एक आधुनिक भारतीय मन की चिंता और आत्मान्वेषण इन रचनाओं की खासियत है। रघुवंश के यात्रावृत्त संकलन *हरी घाटी* की भी पांचवें-छठे दशक में सराहना हुई। आजादी के बाद इस क्षेत्र में उल्लेखनीय काम निर्मल वर्मा ने किया *चीड़ों पर चांदनी* और *धुंध से उठती धुन* उनके प्रसिद्ध यात्रावृत्त संकलन हैं। *धुंध से उठती धुन* ऐसा यात्रावृत्त है, जिसमें भारतीय सभ्यता और संस्कृति को आधुनिक निगाह से समझने की कोशिश की गई है। हिमालय भारतीय रचनाकारों को अक्सर अपनी ओर आकृष्ट करता रहा है। हिमालय की धार्मिक और सांस्कृतिक विरासत से रूबरू करवाने वाले यात्रावृत्तों की श्रृंखला *स्फीति में बारिश*, *किन्नर धर्मलोक* और *लदाख राग-विराग* नाम से हिंदी में कृष्णनाथ ने लिखे। *मुअनजोदडो* विख्यात पत्रकार ओम थानवी का ऐसा यात्रा वृत्तांत है जो इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व की गहरी समझ के साथ लिखा गया है। *मुअनजोदडो* नामक यह किताब ऐतिहासिक और पुरातात्विक वर्णन के साथ सांस्कृतिक दिलचस्पी को केंद्र में लाती है। विवेचन-विक्षेपण और विचार के लिए हिंदी में इस्तेमाल किए जाने वाले भारी भरकम और जलेबीदार वाक्यों वाले गद्य से एकदम अलग, यह छोटे-छोटे वाक्यों वाला, बोलचाल की नाटकीयता से भरपूर बहता हुआ गद्य है। पत्रकार अनिल यादव का *वह भी कोई देश है महाराज* यात्रा-वृत्तांत पूर्वोत्तर की जमीनी हकीकत बयान करता है। पूर्वोत्तर केंद्रित इस पुस्तक में वहां के जन-जीवन की असलियत बयान करने के साथ-साथ व्यवस्था की असलियत को उजागर करने में भी अनिल ने कोई कोताही नहीं बरती है। इसमें भावोच्छ्वास का कोई झोल न हो और तथ्यजन्य त्रुटि भी न जाए, इसका खयाल रखा गया है। यहां अनिल के कथाकार की भाषा उनकी पत्रकार-दृष्टि को इस कदर ताकत देती है कि इसे उपन्यास की तरह भी पढ़ा जा सकता है। लेखक असगर वजाहत की किताब *रास्ते की तलाश* में अजरबेईजान, बांग्लादेश, अंडमान-निकोबार, मिजोरम, कोंकण आदि स्थानों की यात्राओं का वर्णन है। इनके संबंध में लेखक ने कहा है कि 'जिस व्यक्ति में जिज्ञासाएं होती हैं, वह किसी चीज की गहराई तक जाकर सच को जानना चाहता है। अपनी इन्हीं जिज्ञासाओं के साथ मैंने कुछ यात्राएं की हैं, जहां भी गया, वहां मैंने अपने समय, समाज और देश को समझने की कोशिश की, इसमें मैं कहां तक सफल हो पाया, यह तो पाठक ही बताएंगे।' कथाकार पंकज बिष्ट ने भी यात्रा वृत्तांत लिखे हैं, जो उनकी किताब *खरामा-खरामा* में संकलित हैं। अपनी किताब के बारे में बिष्ट का कहना है कि 'मैंने ये यात्राएं लगभग 40 साल में की हैं, ज्यादातर पहाड़ (उत्तराखंड) और गुजरात की। मैं जहां भी जाता हूँ, वहां के भूगोल और आदमी के संबंध की तलाश करता हूँ। इन यात्रा वृत्तांतों में मैंने जिंदगी के संघर्ष को पकड़ने का प्रयास किया है।'

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि हिंदी में गद्य विधाओं का स्वरूप विकास आधुनिककाल में ही हुआ। कहानी-उपन्यास की प्रधानता के कारण कारण हिंदी में आरंभकाल में जीवनी, संस्मरण, आत्मकथा और यात्रा वृत्तांत जैसी कथेतर गद्य विधाओं में सक्रियता अवरुद्ध रही। कुछ गिनती के लोग और गिनती की रचनाओं का ही उल्लेख मिलता है। इस कारण ही हिंदी में इनका स्वरूप और चरित्र भी ठीक ढंग से विकसित नहीं हो पाया। अब हालात बदल रहे हैं। कथाकार भी अब कथा भिन्न रचनात्मक गद्य में हाथ आजमा रहे हैं और कामयाब भी हो रहे हैं। प्रयोग और नवाचार इस समय कथेतर गद्य में खूब हो रहे हैं जिससे गद्य का नया रूप सामने आ रहा है। आम पाठकों का नजरिया बदलने ने भी कथेतर गद्य को लोकप्रिय बनाया है। कल्पना जो कथाप्रधान गद्य की जान हुआ करती थी अब जीवन में उतनी निर्णायक हैसियत में नहीं है। उसकी जगह तथ्य का आग्रह बढ़ रहा है। नतीजतन पाठक भी अब कहानी-उपन्यास की जगह कथेतर रचनात्मक गद्य अधिक पसंद कर रहे हैं।

बाजार और मीडिया के बीच भारतीय भाषाएं

संजय द्विवेदी

हिंदी और भारतीय भाषाओं को लेकर समाज में एक अजीब सा सन्नाटा है। संचार व मीडिया की भाषा पर कोई बात नहीं करना चाहता। उसके जायज-नाजायज इस्तेमाल और भाषा में दूसरी भाषाओं खासकर अंग्रेजी की मिलावट को लेकर भी कोई प्रतिरोध नजर नहीं आ रहा है। ठेठ हिंदी का ठाठ जैसे अंग्रेजी के आतंक के सामने सहमा पड़ा है और हिंदी और भारतीय भाषाओं के समर्थक एक अजीब निराशा से भर उठे हैं। ऐसे में मीडिया की दुनिया में इन दिनों भाषा का सवाल काफी गहरा हो जाता है। मीडिया में जैसी भाषा का इस्तेमाल हो रहा है उसे लेकर शुद्धता के आग्रही लोगों में काफी हाहाकार व्याप्त है। चिंता हिंदी की है और उस हिंदी की जिसका हमारा समाज उपयोग करता है। बार-बार ये बात कही जा रही है कि हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में अंग्रेजी की मिलावट से हमारी भाषाएं अपना रूप-रंग-रस और गंध खो रही हैं।

बाजार की सबसे प्रिय भाषा

हिंदी हमारी भाषा के नाते ही नहीं, अपनी उपयोगिता के नाते भी आज बाजार की सबसे प्रिय भाषा है। आप लाख अंग्रेजी के आतंक का विलाप करें। काम तो आपको हिंदी में ही करना है, ये मरजी आपकी कि आप अपनी स्क्रिप्ट देवनागरी में लिखें या रोमन में। यह हिंदी की ही ताकत है कि वह सोनिया गांधी से लेकर कैटरीना कैफ तक सबसे हिंदी बुलवा

ही लेती है। उड़िया न जानने के आरोप झेलनेवाले नेता नवीन पटनायक भी हिंदी में बोलकर ही अपनी अंग्रेजी न जानने वाली जनता को संबोधित करते हैं। इतना ही नहीं प्रणव मुखर्जी की सुन लीजिए वे कहते हैं कि- 'वे प्रधानमंत्री नहीं बन सकते क्योंकि उन्हें ठीक से हिंदी बोलनी नहीं आती।' कुल मिलाकर हिंदी आज मीडिया, राजनीति, मनोरंजन और विज्ञापन की प्रमुख भाषा है। हिंदुस्तान जैसे देश को एक भाषा से सहारे संबोधित करना हो तो वह सिर्फ हिंदी ही है। यह हिंदी का अहंकार नहीं उसकी सहजता और ताकत है। मीडिया में जिस तरह की हिंदी का उपयोग हो रहा है उसे लेकर चिंताएं बहुत जायज हैं किंतु विस्तार के दौर में ऐसी लापरवाहियां हर जगह देखी जाती हैं। कुछ अखबार प्रयास पूर्वक अपनी श्रेष्ठता दिखाने अथवा युवा पाठकों का ख्याल रखने के नाम पर हिंग्लिश परोस रहे हैं, जिसकी कई स्तरों पर आलोचना भी हो रही है। हिंग्लिश का उपयोग चलन में आने से एक नई किस्म की भाषा का विस्तार हो रहा है किंतु आप देखें तो वह विषयगत ही ज्यादा है। लाइफ स्टाइल, फिल्म के पन्नों, सिटी कवरेज में भी लाइट खबरों पर ही इस तरह की भाषा का प्रभाव दिखता है। चिंता हिंदी समाज के स्वभाव पर भी होनी चाहिए कि वह अपनी भाषा के प्रति बहुत सम्मान भाव नहीं रखता, उसके साथ हो रहे खिलवाड़ पर उसे बहुत आपत्ति नहीं है। हिंदी को लेकर किसी तरह का भावनात्मक आधार भी नहीं बनता, न वह अपना कोई ऐसा वृत्त बनाती है, जिससे उसकी अपील बने।

समर्थ बोलियों का संसार

हिंदी की बोलियां इस मामले में ज्यादा समर्थ हैं क्योंकि उन्हें क्षेत्रीय अस्मिता एक आधार प्रदान करती है। हिंदी की सही मायने में अपनी कोई जमीन नहीं है। जिस तरह भोजपुरी, अवधी, छत्तीसगढ़ी, बुंदेली, बघेली, गढ़वाली, मैथिली, बृजभाषा जैसी तमाम बोलियों ने बनाई है। हिंदी अपने व्यापक विस्तार के बावजूद किसी तरह का भावनात्मक आधार नहीं बनाती। सो इसके साथ किसी भी तरह की छेड़छाड़ किसी का दिल भी नहीं दुखाती। मीडिया और मनोरंजन की पूरी दुनिया हिंदी के इसी विस्तारवाद का फायदा उठा रही है किंतु जब हिंदी को देने की बारी आती है तो ये भी उससे दोगुना दर्जे का ही व्यवहार करते हैं। यह समझना बहुत मुश्किल है कि विज्ञापन, मनोरंजन या मीडिया की दुनिया में हिंदी की कमाई खाने वाले अपनी स्क्रिप्ट इंग्लिश में क्यों लिखते हैं? देवनागरी में किसी स्क्रिप्ट को लिखने से क्या प्रस्तोता के प्रभाव में कमी आ जाएगी, फिल्म फ्लाप हो जाएगी या मीडिया समूहों द्वारा अपने दैनिक कामों में हिंदी के उपयोग से उनके दर्शक या पाठक भाग जाएंगे। यह क्यों जरूरी है कि हिंदी के अखबारों में अंग्रेजी के स्वनामधन्य लेखक, पत्रकार एवं स्तंभकारों के तो लेख अनुवाद कर छापे जाएं, उन्हें मोटा पारिश्रमिक भी दिया जाए किंतु हिंदी में मूल काम करने वाले पत्रकारों को मौका ही न दिया जाए। हिंदी के अखबार क्या वैचारिक रूप से इतने दरिद्र हैं कि उनके अखबारों में गंभीरता, तभी आएगी, जब कुछ

स्वनामधन्य अंग्रेजी पत्रकार उसमें अपना योगदान दें? यह उदारता क्यों? क्या अंग्रेजी के अखबार भी इतनी ही सदाशयता से हिंदी के पत्रकारों के लेख छापते हैं?

रोमन में हो रहा है काम

पूरा विज्ञापन बाजार हिंदी क्षेत्र को ही दृष्टि में रखकर विज्ञापन अभियानों को प्रारंभ करता है किंतु उसकी पूरी कार्यवाही देवनागरी के बजाय रोमन में होती है जबकि अंत में फाइनल प्रोडक्ट देवनागरी में ही तैयार होना है। गुलामी के ये भूत हमारे मीडिया को लंबे समय से सता रहे हैं। इसके चलते एक चिंता चौतरफा व्याप्त है। यह खतरा एक संकेत है कि क्या कहीं देवनागरी के बजाए रोमन में ही हिंदी न लिखने लगी जाए। कई बड़े अखबार भाषा की इस भ्रष्टता को अपना आदर्श बना रहे हैं, जिसके चलते हिंदी शरमाई और सकुचाई हुई सी दिखती है। शीर्षकों में कई बार पूरा का शब्द अंग्रेजी और रोमन में ही लिख दिया जा रहा है। जैसे- **मल्लिका का BOLD STAP** या इसी तरह **कौन बनेगा PM** जैसे शीर्षक लगाकर आप क्या करना चाहते हैं। कई अखबार अपने हिंदी अखबार में कुछ पन्ने अंग्रेजी के भी चिपका दे रहे हैं। आप ये तो तय कर लें, यह अखबार हिंदी का है या अंग्रेजी का। रजिस्ट्रार आफ न्यूजपेपर्स में जब आप अपने अखबार का पंजीयन कराते हैं तो नाम के साथ घोषणापत्र में यह भी बताते हैं कि यह अखबार किस भाषा में निकलेगा। क्या अंग्रेजी के पन्ने जोड़ने वाले हिंदी अखबारों ने द्विभाषी होने का पंजीयन कराया है? आप देखें तो पंजीयन हिंदी के अखबार का है और उसमें दो या चार पेज अंग्रेजी के लगे हैं। हिंदी के साथ ही आप ऐसा कर सकते हैं। संभव हो तो आप हिंग्लिश में भी एक अखबार निकालने का प्रयोग कर लें। संभव है वह प्रयोग सफल भी हो जाए किंतु इससे भाषाई अराजकता तो नहीं मचेगी।

हिंदी के खिलाफ मनमानी

हिंदी में जिस तरह की शब्द सामर्थ्य और ज्ञान-विज्ञान के हर अनुशासन पर अपनी बात कहने की ताकत है, उसे समझे बिना इस तरह की मनमानी के मायने क्या हैं। मीडिया की बढ़ी ताकत ने उसे एक जिम्मेदारी भी दी है। सही भाषा के इस्तेमाल से नई पीढ़ी को भाषा के संस्कार मिलेंगे। बाजार में हर भाषा के अखबार मौजूद हैं। मुझे अंग्रेजी पढ़नी है तो मैं अंग्रेजी के अखबार ले लूंगा, वह अखबार नहीं लूंगा, जिसमें दस हिंदी के और चार पन्ने अंग्रेजी के भी लगे हैं। इसी तरह मैं अखबार के साथ एक रिश्ता बना पाता हूँ क्योंकि वह मेरी भाषा का अखबार है। अगर उसमें भाषा के साथ खिलवाड़ हो रहा है तो क्या जरूरी है मैं आपके इस खिलवाड़ का हिस्सा बनूँ? यह दर्द हर संवेदनशील हिंदी प्रेमी का है। हिंदी किसी जातीय अस्मिता की भाषा भले न हो यह इस महादेश को संबोधित करनेवाली सबसे समर्थ भाषा है। इस सच्चाई को जानकर ही देश का मीडिया, बाजार और

उसके उपादान अपने लक्ष्य पा सकते हैं। हिंदी की ताकत को कमतर आंककर आप ऐसे सच से मुंह चुरा रहे हैं जो सबको पता है। हजारों-हजार गीत, कविताएं, साहित्य, शिल्प और तमाम कलाएं नष्ट होने के कगार पर हैं किंतु उनके गुणग्राहक कहां हैं। एक विशाल भू-भाग में बोली जाने वाली हजारों बोलियां, उनका साहित्य-जो वाचिक भी है और लिखित भी, उसकी कलाचेतना, प्रदर्शन, कलाएं सारा कुछ मिलकर एक ऐसा लोक रचती हैं, जिस तक पहुंचने के लिए अभी काफी समय लगेगा। लोकचेतना तो वेदों से भी पुरानी है क्योंकि हमारी परंपरा में ही ज्ञान बसा हुआ है। ज्ञान, नीति-नियम, औषधियां, गीत, कथाएं, पहलियां सब कुछ इसी 'लोक' का हिस्सा हैं। हिंदी अकेली भाषा है, जिसका चिकित्सक भी 'कविराय' कहा जाता था। बाजार आज सारे मूल्य तय कर रहा है और यह 'लोक' को नष्ट करने का षड्यंत्र है। यह सही मायने में बिखरी और कमजोर आवाजों को दबाने का षड्यंत्र भी है। इसका सबसे बड़ा शिकार हमारी बोलियां बन रही हैं, जिनकी मौत का खतरा मंडरा रहा है। अंडमान की 'बो' नाम की भाषा खत्म होने के साथ इसका सिलसिला शुरू हो गया है। भारतीय भाषाओं और बोलियों के सामने यह सबसे खतरनाक समय है। आज के मुख्यधारा के मीडिया के पास इस संदर्भों पर काम करने का अवकाश नहीं है। समाज के प्रतिबद्ध पत्रकारों, साहित्यकारों को आगे आकर इस चुनौती को स्वीकार करने की जरूरत है। 'लोक' की उपेक्षा और बोलियों को नष्ट कर हम अपनी प्रदर्शन कलाओं, गीतों, शिल्पों और विरासतों को गवां रहे हैं जबकि इसके संरक्षण की जरूरत है।

बढ़ती ताकत के बावजूद उपेक्षा

भारतीय भाषाओं के प्रकाशन आज अपनी प्रसार संख्या और लोकप्रियता के मामले में अंग्रेजी पर भारी है, बावजूद इसके उसका सम्मान बहाल नहीं हो रहा है। इंडियन रीडरशिप सर्वे की रिपोर्ट देखें तो सन् 2011 के आंकड़ों में देश के दस सर्वाधिक पढ़े जाने वाले अखबारों में अंग्रेजी का एकमात्र अखबार है वह भी छठे स्थान पर, जिसमें पहले तीन स्थान हिंदी अखबारों के लिए सुरक्षित हैं। यानी कुल पहले 10 अखबारों में 9 अखबार भारतीय भाषाओं के हैं। आईआरएस (एक विश्वसनीय पाठक सर्वेक्षण) के मुताबिक अखबारों की पठनीयता का क्रम इस प्रकार है : 1. दैनिक जागरण (हिंदी), 2. दैनिक भास्कर (हिंदी), 3. हिंदुस्तान (हिंदी), 4. मलयालम मनोरमा (मलयालम), 5. अमर उजाला (हिंदी), 6. द टाइम्स ऑफ इंडिया (अंग्रेजी), 7. लोकमत (मराठी), 8. डेली थांती (तमिल), 9. राजस्थान पत्रिका (हिंदी), 10. मातृभूमि (मलयालम)

देश की सर्वाधिक पढ़ी जाने वाली पत्रिकाओं में भी पहले 10 स्थान पर अंग्रेजी के मात्र दो प्रकाशन शामिल हैं। इंडियन रीडरशिप सर्वे के 2011 के आंकड़े देखें तो देश में सर्वाधिक प्रसार संख्या वाली पत्रिका वनिता (मलयालम) है। दूसरा स्थान हिंदी के प्रकाशन प्रतियोगिता दर्पण को प्राप्त है। देश में सर्वाधिक पढ़ी जाने वाली पत्रिकाओं का क्रम इस प्रकार है: 1. वनिता (मलयालम)-पाक्षिक, 2. प्रतियोगिता दर्पण (हिंदी)-मासिक, 3. सरस

सलिल(हिंदी)-पाक्षिक, 4. सामान्य ज्ञान दर्पण (हिंदी)- मासिक, 5. इंडिया टुडे (अंग्रेजी)-साप्ताहिक, 6. मेरी सहेली (हिंदी)-मासिक, 7. मलयालया मनोरमा (मलयालम)-साप्ताहिक, 8. क्रिकेट सम्राट (हिंदी)-मासिक, 9. जनरल नालेज टुडे (अंग्रेजी)-मासिक, 10. कर्मक्षेत्र (बंगला)-साप्ताहिक (स्रोत: आईआरएस-2011 क्यू फोर)

भाषा के अपमान का सिलसिला

इस संकट के बरक्स हम भाषा के अपमान का सिलसिला अपनी शिक्षा में भी देख सकते हैं। हालात यह हैं कि मातृभाषाओं में शिक्षा देने के सारे जतन आज विफल हो चुके हैं। जो पीढ़ी आ रही है उसके पास हिंग्लिश ही है। वह किसी भाषा के साथ अच्छा व्यवहार करना नहीं जानती है। शिक्षा खासकर प्राथमिक शिक्षा में भाषाओं की उपेक्षा ने सारा कुछ गड़बड़ किया है। इसके चलते हम एक ऐसी पीढ़ी तैयार कर चुके हैं, जिनमें भारतीय भाषाओं और हिंदी के लिए आदर नहीं है। इसलिए पापुलर का पाठ गाता मीडिया भी ऐसी मिश्रित भाषा के पीछे भागता है। साहित्य के साथ पत्रकारिता की बढ़ी दूरी और भाषा के साथ अलगाव ने मीडिया को एक नई तरह की भाषा और पदावली दी है, जिसमें वह संवाद तो कर रहा है किंतु उसे आत्मीय संवाद में नहीं बदल पा रहा है। जिस भाषा के मीडिया का साहित्य से एक खास रिश्ता रहा हो, उसकी पत्रकारिता ने ही हिंदी को तमाम शब्द दिए हों और भाषा के विकास में एक खास भूमिका निभायी हो, उसकी बेबसी चिंता में डालती है। भाषा, साहित्य और मीडिया के इस खास रिश्ते की बहाली जरूरी है क्योंकि मीडिया का असर उसकी व्यापकता को देखते हुए साहित्य की तुलना में बहुत बड़ा है। साहित्य और भाषा के आधार अपने मीडिया की रचना खड़ी करना जरूरी है, क्योंकि इनके बीच में अंतरसंवाद से मीडिया का ही लाभ है वह समाज को वे तमाम अनुभव भी दे पाएगा जो मीडिया की तुरंतवादी शैली में संभव नहीं हो पाते। पापुलर को साधते हुए मीडिया को, उसे भी साधना होगा जो जरूरी है। मीडिया का एक बड़ा काम रुचियों का परिष्कार भी है, वह तभी संभव है जब वह साहित्य और भाषा से प्रेरणा ग्रहण करता रहे। भाषा की सहजता से आगे उसे भाषा के लोकव्यापीकरण और उसके प्रति सम्मान का भाव भी जगाना है तभी वह सही मायने में 'भारत का मीडिया' बन पाएगा।

उपन्यास एक अशुद्ध कला है और आलोचना...?

संजीव

कभी कृष्ण किशोरजी के संपादन में प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'अन्यथा' ने उपन्यास केंद्रित एक भव्य अंक प्रकाशित किया था। उपन्यास को जीवन और जगत की प्रतिसृष्टि बताते हुए उसके 'विराटत्व' पर एक विहंगम दृष्टि डाली गई थी। प्रायः हर उपन्यासकार और आलोचक समय-समय पर, इससे जूझता रहा है। प्रख्यात उपन्यासकार डी.एच.लारेन्स ने तो यहां तक कह डाला- 'एक उपन्यासकार के रूप में मैं अपने आपको किसी संत, वैज्ञानिक, दार्शनिक और कवि से बड़ा मानता हूं। उपन्यास जिंदगी की एक रौशन किताब है।'

यह एक ऐसी सर्वसमावेशी विधा है जो अभिव्यक्ति की अन्य दूसरी विधाओं को सोख लेती है। 'भारतीय विवाह संस्था का इतिहास' के लेखक दशरथ प्रसाद रजवाड़े अपने इतर शोधों के साथ-साथ कादंबरी (उपन्यास) से भी जूझते रहे। सामान्य और वरिष्ठ सामाजिक कार्यकर्ता ब्रह्मदेव शर्मा, स्टाइन बैक के उपन्यास 'द ग्रेप्स ऑफ रेड' से इतने प्रभावित हुए कि अपने व्यस्त क्षणों में भी, उसका हिंदी अनुवाद करने में लगे हैं। 'ढोंडाय चरितमानस' के लेखक सतीनाथ भादुडी से पूछा गया, 'आगे क्या लिख रहे हैं तो उन्होंने बताया, 'मेरा वश चले तो मैं 'ढोंडाय को ही लिखता रहूं।'

ये चंद तथ्य उपन्यास विधा के महत्व को दर्शाने के लिए काफी हैं। मगर वहीं एक दिक्कत सामने आने लगी। अपने आप में सर्वसमावेशी होने की यह छूट ली जाने लगी कि उपन्यास के नाम पर कुछ भी लिख मारो, सब चलेगा।

इसी परिप्रेक्ष्य में परमानंद श्रीवास्तव की एक पुस्तक आई 'उपन्यास के विरुद्ध उपन्यास' तो शीर्षक देखकर आशा जगी कि उपन्यास के क्षेत्र में छा रही अराजकता पर परमानंदजी ने अवश्य ही उंगली रखी होगी, पर नहीं। सर्वसमावेशी विधा पर उनका लिखना भी सर्वसमावेशी होकर रह गया।

जजमेंट जज का भी जजमेंट करती हैं। दुर्भाग्यवश हिंदी कथा आलोचना की स्थिति अत्यंत शोचनीय है।

आलोचक का काम इस मायने में लेखक से भी ज्यादा चुनौतीपूर्ण होता है कि उसकी न सिर्फ रचना बल्कि रचना का उपजीव्य और अनुषंगों के साथ-साथ विधा में भी गहरी पेंठ होनी चाहिए, इन्हें खोलने की कला भी आती हो। पक्षपात, अतिकथन या भरती की चीजों को भरकर पल्ला झाड़ लेने वाले आलोचक भ्रम फैलाते हैं।

आलेख और पुस्तक-समीक्षा के रूप में समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में परमानंद के ये लेख आते रहे हैं। इस अर्थ में उनकी यह पुस्तक 'उपन्यास के विरुद्ध उपन्यास' कोई व्यवस्थित आलोचना या नई किताब नहीं है, जैसा कि भूमिका में दावा किया गया है, बल्कि समीक्षा-संकलन मात्र है। अपने शीर्षकों से कुछ समीक्षाएं सैद्धांतिकी का भ्रम अवश्य पैदा करती हैं- यथा-'उपन्यास की सैद्धांतिकी/एक प्रति विमर्श', 'प्रति उपन्यास की अवधारणा', 'क्या उपन्यास एक सामाजिक संस्था है', 'उपन्यास में समाज', 'उपन्यास के विरुद्ध उपन्यास' आदि आदि।

इनके अतिरिक्त परमानंदजी ने 'आंचलिकता', 'विभाजन', 'किस्सागोई', 'सांप्रदायिकता', 'स्त्री', 'दलित' आदि विमर्शों को भी अपने ढंग से अपनी जद में लिया है और लघु उपन्यासों या कहानियों को भी उपन्यास की खोल में भरने की कोशिश की है। मसलन, उदय प्रकाश की कहानी 'मैंगोसिल' पर परमानंद ने जिस प्रकार डूबकर लिखा है, वह अतिकथन होकर 'डूबना' न होकर 'बूडना' हो गया है। उन्हें, जो पसंद है, पसंद है, जो नहीं है, नहीं है। इस घपले में पकड़ा वे, तब जाते हैं जब एक ही आधार पर, एक रचना को तिल बनाते हैं, फिर उसी आधार पर दूसरी रचना को ताड़। पकड़ से छूटने के लिए उनके पास पश्चिमी आलोचकों की सैद्धांतिकी और वग्विगता है। हिंदी उपन्यासों के क्षेत्र में इधर घोर अराजकता व्यापती जा रही है। अच्छा बुरा, पका-अनपका यानी कच्चा-पक्का जो भी लिखा गया वह उपन्यास नहीं हो जाता। अपच का वमन होता है। ईमानदारी से उनका पाठ रचने में कई उपन्यास खारिज हो सकते थे। आग्रही व भीरु आलोचक इसका जोखिम नहीं उठाते, इस्केप तलाशते हैं। परमानंद में यह इस्केप समावेशीकरण है। वैसे भी उपन्यास का फलक अनंत है, उसे कला-रूप में ही साधा जा सकता है। उपन्यासकार में कौशल है या नहीं- आलोचक में इसे कहने का सत्साहस होना चाहिए। किसी भी व्यक्ति के लिए सारी साहित्यिक कृतियों को पढ़ पाना संभव नहीं है। ईमानदारी का तकाजा है, उसे सर्वज्ञाता दिखने के बजाए इस सीमा को स्वीकार लेना चाहिए पर जैसी कि परमानंद की प्रकृति और जैसा कि विधागत पुस्तकों की बहुलता है

वे अपने समावेशी विद्वता-प्रदर्शन में सब पर टिप्पणी जड़ना चाहते हैं और अपनी गठरी में सब कुछ भर लेना चाहते हैं, जिनमें कुछ छूट जाता है, कुछ टूट जाता है, कुछ पिचक जाता है।

‘लोसा’ आदि पर लिखते समय लगता है, रपट रहे हैं, यही हाल ‘कैसी आग लगाई’ (असगर वजाहत), ‘रेत’ (भगवानदास मोरवाल) जैसों को जैसे-तैसे सलटा देते हैं। वरिष्ठ आलोचक ने काफी उपन्यासों को लिया है- पर ‘सब साथे सब जाय’ के तहत कुछ को छोड़ दें तो बहुत कुछ बिना सधे ही रह गया।

परमानंद की सीमा ‘प्रति उपन्यासों’ की समीक्षा में स्पष्ट है। सतीनाथ भादुडी का ‘ढोंडाय चरितमानस’ निश्चित रूप से एक ‘प्रति उपन्यास’ है, पर क्यों? इसे बताने में उनकी सवर्णवादी मानसिकता आड़े आती है कि यह तुलसी के रामचरितमानस का ‘एंटि थीसिस’ या ‘एंटि मैटर’ है और भारतीय स्वाधीनता के आसपास लिखे गए इस उपन्यास का आज भी न तो कोई जोड़, है न तोड़। सतीनाथ का नायक ढोंडाय किसी चक्रवर्ती राजा का बेटा न होकर ‘रामचरितमानस’ गा-गाकर भीख मांगने वाले भिखारी का बेटा है, जिसकी मां किसी दूसरे के साथ भाग गई है। तुलसी के कांड विभाजनों के सामने कांड विभाजन समेत दीन-हीन गए-बीते श्रमिकों के जगत के साथ, उस चमत्कारी सामंती-जातिवादी कथा को मुंह चिढ़ाता खड़ा है उपन्यास, जहां कोई सीता अग्निपरीक्षा नहीं देती, जहां स्वाधीनता प्राप्ति कला से ही जातिगत अस्मिताओं के अटपटे उभार और राजनीति की लूट-खसोट लक्षित की जा सकती है। इस प्रसंग में दूसरा प्रति उपन्यास होगा अरुण आदित्य का ‘उत्तर बनवास’। उपन्यासों को संपूर्णता में देखने पर आपको यत्किंचित अभाव भले दिखे, पर हैं ये प्रति उपन्यास ही। दूसरी तरफ न तो ‘मैला आंचल’ (रेणु), न ही ‘पद्मा नंदीर माझी’ (माणिक बंधोपाध्याय), ‘आखिरी कलाम’ (दूधनाथ सिंह) आदि को प्रति उपन्यास सिद्ध ही करने पर तुले हुए हैं तो उनके पास वाजिब तर्क होने चाहिए थे, जो नहीं हैं।

आज हिंदी में विधागत अनुशासनों, खासकर उपन्यासों को लेकर जो चरम अराजकता फैलाई जा रही है, पूरी पुस्तक पढ़ने पर वे इसके प्रथम प्रवक्ता या पुरोहित सिद्ध होते हैं। जिनमें टेक्निकल फाल्ट्स हैं, वे भी, जिनमें तथ्यात्मक भूलें हैं, वे भी, जिनमें डॉक्यूमेंट्स को बिन पचाए रख दिया गया है, वे भी...कहानी को, संस्मरणों को, आत्मवृत्तों और जीवनियों को सबको उपन्यास के नाम पर परोसा जा रहा है, पुरस्कृत किया जा रहा है।

‘प्रति उपन्यास’ के अलावा इसी से मिलता-जुलता एक अध्याय और है ‘उपन्यास के विरुद्ध उपन्यास’। इन दोनों अध्यायों को ‘क्या उपन्यास एक सामाजिक संस्था है।’ के साथ जद में लेते हुए उपन्यास के विमर्श को एक अलग ही दिशा और व्याप्ति दी जा सकती थी। पर परमानंद ने ऐसा नहीं किया। वजह सिर्फ यह है कि वे कोई विमर्श नहीं रच रहे थे बल्कि किसी पुस्तक विशेष की समीक्षा के सीमित उद्देश्य के बहाने इन विमर्शों

में उतरे थे। मजे की बात है 'उपन्यास के विरुद्ध उपन्यास' का, अपनी तमाम बौद्धिकता के बावजूद आघात बिंदु दूधनाथ सिंह का अयोध्या-बाबरी मस्जिद विध्वंस और रामचरितमानस ही है।

यह देश, यह समाज चार सौ वर्षों से रामकथा के इसी चौराहे पर भटक रहा है चाहे सतीनाथ, दूधनाथ, अरुण आदित्य इसका अपने-अपने ढंग से पड़ताल करते रहे हैं या भाष्य रच रहे हैं। इन उपन्यासकारों के अलावा 'लोक' में रामकथा अवचेतन में गहरे समाई हुई हैं। साहस करके इस विडंबना पर उंगली रखने वाले दूधनाथ अकेले नहीं हैं-

'एक किताब तुम्हें चुप कराती है- एक मौत के दरवाजे पर छोड़ आती है। एक किताब तुम्हें शताब्दियों तक अंधा बनाती है।... किताबें शक पैदा करती हैं...'

अगर कहीं है भी तो इसलिए कि यहां वे दो टूक रहे। लोक से लेकर वर्तमान में फैली रामकथा के कारणों की पड़ताल में कृतियों के मिजाज के बहाने, समाज का मिजाज और उसकी 'शक' पैदा करने वाली चेतना के शोध के बहाने इसी शीर्षक के तहत एक कालजयी कृति आ सकती थी जो नहीं आई। परमानंद की बाख्तिन की 'बहुध्वन्यात्मकता' की थ्योरी के बहाने महुआ माजी समेत इतनी कृतियों को महान बताया है कि महानता की छटा लग गई है। हिंदी भाषियों को गर्व होना चाहिए...हाय! हम नाहक ही अपने को अकिंचन मानकर आज तक स्यापा करते रहे...।

परमानंद की सैद्धांतिकी के आधार कुछ इस प्रकार हैं-

1. उपन्यास एक अशुद्ध कला है।
2. उपन्यास का समाजशास्त्र कथा विमर्श का सम्मिलित अनुशासन है।
3. उपन्यास एक अर्थ में भानुमती का पिटारा है।
4. यह गद्य रूप में बद्ध भी होता है, मुक्त भी- फ्रेडरिक जेम्सन
5. बाख्तिन ने उपन्यास को कार्निवाल की तरह कहा है, एकालाप से भिन्न समाज से संवाद। बाख्तिन की संवादात्मक कल्पना और बहुध्वन्यात्मकता को बार-बार उद्धृत किया गया है।
6. नीत्से ने ऐतिहासिक, बहुध्वन्यात्मकता से जिन उपन्यासों को जोड़ा था आज उन्हें पढ़ा जाना चाहिए।
7. उपन्यास के पाठ, प्रतिपाठ, उपपाठ उपन्यास के भीतर खुलते हैं।
8. मिलान कुंडेरा ने दर्शन, वृत्तांत और स्वप्न को एक संगीत में घुलते देखा और उसे कथात्मक क्रीडाभाव बताया-छाया बिनोद।
9. इन विद्वानों के साक्ष्य तक ही सीमित नहीं रहते परमानंद, आवश्यकतानुसार टेरी इग्ल्टन, जेम्सन, ग्राम्सी, वर्जीनिया वुल्फ, लुकाच, बेंजामिन, रोलाबार्थ, मार्खेज, रामचंद्र गुहा, विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े समेत मार्क्स आदि भी हैं।

10. वे बताते हैं कि उपन्यास की सैद्धांतिकी बनाते हुए यह न भूलें कि यहां बाजार और इस लोकप्रिय कथारूप की अनोखी संगति है। (शुक्र है, यहां उन्होंने उपन्यास को एक 'कथा रूप' तो माना)...

11. परमानंद की मानें तो अराजकता 'गुनाह' नहीं 'गुर' है।

कहा जाता है कि 'मैं बोरिशाइल्ला' प्रकाशित होने के पूर्व उसकी समीक्षा रच डाली थी उन्होंने- राम के पहले ही रामायण। ऐसे व्याख्या-वीर आलोचक अराजकता के पक्षधर न होते तो कौन होता! किसी कहानी को उपन्यास बताएं, किसी कृति को औपन्यासिक विस्थापन की फलश्रुति। उन्हें कौन बताए कि बाख्तिन की बहुध्वन्यात्मक नक्कारों की आड़ लेकर लेखकीय विवेक से जुड़ी जिन कतिपय आवाजों को वे अनसुनी कर रहे हैं, उनमें एक आवाज बेचारे उपन्यास की भी है जो कहना चाहता है स्वैराचारों को बंद करें-वहां तिथि और तथ्य के अलावा तथता भी होती है, कहना चाहता है कि उपन्यास एक कला रूप भी है, जिसकी कुछ कथ्यात्मक शर्तें भी होती हैं। तमाम तोपों को दागते हुए वे कुछ का कुछ सिद्ध करने में लगे रहते हैं कभी बैंगन उनके लिए बिना गुन का है तो कभी 'सब्जियों का राजा'। सवाल है, उनकी वाग्मिता हमें कहीं पहुंचाती भी है क्या?

आलोचक ने अनेक उदाहरण और साक्ष्य दिए हैं मैं सिर्फ एक दे रहा हूं, श्रीराम लागू द्वारा अभिनीत 'उपन्यास'! उपन्यास के कैचमेंट जोन से कथा में आना फिर कथा से जीवन में जाना- रचना की पारगामी झिल्ली...लेखक के मन की रहस्यमयी कुहेलिका (डार्करूम) के अंदर घटित हो रहे फरमेंटेशन को दर्शाता धारावाहिक। उसकी एक उक्ति को 'कोट' करने का जी चाहता है- **'कोई कुछ नहीं समझता, वह वही समझता है, जो वह समझना चाहता है।'**

हिंदी की दूसरी परंपरा के निर्माण की दिशा में 'हिंदी का दूसरा समय' का विशाल महाकुंभ संपन्न

ए.के मिश्र

आज से ठीक चार साल पहले जनवरी 2009 में महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में 'हिंदी समय' के पांच दिवसीय विशाल वैचारिक महाकुंभ का आयोजन हुआ था। इस आयोजन ने साहित्य से इतर कई नई बहसों को जन्म दिया था। पुनः चार वर्ष के अंतराल के बाद 'हिंदी का दूसरा समय' का यह आयोजन इसलिए महत्वपूर्ण है कि इसमें पहली बार न सिर्फ साहित्यकारों ने हिस्सा लिया बल्कि साहित्य से इतर जनांदोलन, मीडिया, सिनेमा, रंगमंच, अनुवाद आदि माध्यमों में काम कर रहे लगभग 170 संस्कृतिकर्मियों ने बड़े पैमाने पर हिस्सेदारी कर कार्यक्रम को एक सफल विमर्श में बदल दिया।

शीर्ष आलोचक एवं विश्वविद्यालय के कुलाधिपति प्रो. नामवर सिंह ने हिंदी के साहित्यिक महाकुंभ का उदघाटन वक्तव्य देते हुए कहा कि जहां तक हिंदी के दूसरे समय का सवाल है समय को मैं एक वृहत्तर संदर्भ में देख रहा हूँ। उन्होंने कहा कि हिंदी साहित्य की शुरुआत 1000 ईस्वी में हुई। यह समय आधुनिक भारतीय भाषाओं के निर्माण का समय रहा है। यह विश्वविद्यालय हिंदी की दूसरी परंपरा का निर्माण कर रहा है। दूसरी सहस्राब्दी की शुरुआत लोक भाषाओं के और लोक साहित्य के उदय के साथ हुई। उस समय के साहित्य के मूल में भक्ति की भावना प्रधान थी। स्त्री और दलित को पहली बार साहित्य में वाणी मिली। उन्होंने कहा कि मीरां ने राजघराना तक छोड़ दिया था। श्री सिंह ने विशेष जोर देकर कहा कि दुनिया की एक बड़ी आबादी दलितों और स्त्रियों ने बड़ी संख्या में साहित्य की रचना की। यह दूसरा समय था जिसकी एक सहस्राब्दी पार हुई। भारतीय इतिहास में यह दूसरी परंपरा कही जाएगी। आज स्थिति यह है कि स्त्री लेखन को लेकर धड़ाधड़ पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांक निकल रहे हैं। अब कई विश्वविद्यालयों में स्त्री विमर्श के पाठ्यक्रम बन गए हैं। बाबा साहेब भीमराव आंबेडकर दलित को मूक नायक कहते थे वह अब मुखर नायक हो गया है। दलितों में अभी पुरुष ही लिख रहे हैं। आने वाले समय में यह सवाल भी उठने

वाला है कि दलित अपनी स्त्रियों को कितनी आजादी देते हैं। अपनी बात का समापन करते हुए श्री सिंह ने कहा कि मुझे उम्मीद है कि भविष्य के कार्यक्रम के लिए यहां से एक नई दिशा तय होगी।

हजारी प्रसाद द्विवेदी सभागार में आयोजित समारोह को संबोधित करते हुए वरिष्ठ आलोचक प्रो. निर्मला जैन ने कहा कि हिंदी की अवधारणा सिर्फ साहित्य के रूप में नहीं है बल्कि हिंदी को सबकी भाषा बनना है। उन्होंने उम्मीद जताई कि इस आयोजन के माध्यम से हम अपनी परंपरा, इतिहास, ताकत, कमजोरियों और भविष्य की चुनौतियों पर बात करेंगे। 'हिंदी का दूसरा समय' की अभिनव कल्पना करने वाले प्रतिष्ठित कथाकार और विश्वविद्यालय के कुलपति विभूति नारायण राय ने अपनी अध्यक्षीय टिप्पणी में कहा कि यह तेज बदलाव का समय है। इन चार वर्षों में सभी क्षेत्रों में तेजी से बदलाव हुए हैं और सूचना-संचार की विराटता के इस युग में हिंदी का दखल बहुत तेजी से बढ़ता जा रहा है। उन्होंने कहा कि 'हिंदी का दूसरा समय' का आशय दूसरी परंपरा की खोज है। 'हिंदी का दूसरा समय' के संयोजक राकेश मिश्र ने संक्षेप में आयोजन के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि पहले 'हिंदी समय' के आयोजन से लेकर पिछले चार वर्षों के दौरान हिंदी साहित्य और विभिन्न अनुशासनों में आए बदलाव को हम यहां अलग-अलग विषयों पर आयोजित सत्रों के माध्यम से समझने की कोशिश करेंगे। इस मौके पर जयप्रकाश धूमकेतु के संपादन में प्रकाशित 'अभिनव कदम' के नए अंक का लोकार्पण मंच द्वारा किया गया।

1 फरवरी 2013

समय को समझने का दावा खोखला : रवींद्र कालिया

'हिंदी का दूसरा समय' का पहला दिन हिंदी कथा साहित्य, हिंदी कविता, हिंदी आलोचना और कथेतर गद्य के नाम रहा। सआदत हसन मंटो कक्ष में हिंदी कथा साहित्य पर हुई बहस पर अध्यक्षीय टिप्पणी करते हुए प्रख्यात कथाशिल्पी और 'नया ज्ञानोदय' के संपादक रवींद्र कालिया ने कहा कि हमारा समय को समझने का दावा खोखला है। साहित्य जीवन से कट चुका है। स्त्री की स्थिति आज भी दारुण है। हमारे लेखक किसानों की स्थिति से बेखबर हैं। समाज तेजी से बदला है। साफ दिख रहा है कि समाज की गति साहित्य से तेज है। पहले साहित्य समाज का दर्पण हुआ करता था, आज ऐसा नहीं है। साहित्य आज समाज के पीछे लंगड़ाता हुआ चल रहा है। उन्होंने कहा कि भाषा समय के साथ बदलती है। हमें आज प्रेमचंद, फैज, गालिब की भाषा प्रासंगिक लगती है। आज के कई रचनाकारों की भाषा खोखली हो चुकी है। उन्होंने कहा कि चर्चा नई पीढ़ी के द्वारा लिखी जा रही रचनाओं पर केंद्रित होनी चाहिए थी। अंत में उन्होंने कहा कि चीजें, वहीं चमकाई जाती हैं, जहां जंग लग जाता है।

प्रख्यात कथाकार और विश्वविद्यालय में राइटर इन रेजिडेंस संजीव ने नई पीढ़ी के लेखकों द्वारा उपन्यास न लिखे जाने का मुद्दा उठाया। उन्होंने कहा कि पिछले दिनों हिंदी के एक बड़े प्रकाशक द्वारा युवा लेखकों के लिए हिंदी उपन्यास प्रतियोगिता का आयोजन किया गया था, जिसमें उनको पुरस्कार देने लायक एक भी उपन्यास नहीं मिला। संजीव ने रेखांकित करते हुए कहा कि उपन्यास विधा नए लेखकों को आकर्षित नहीं कर पा रही है। यह संभवतः इसलिए कि आज युवा लेखकों के पास सरोकार नहीं हैं और उनका पूरा ध्यान करिअर की ओर है। कथाकार अखिलेश ने कहा कि यह एक साथ निर्माण और ध्वंस का समय है। यह ऊपर से जितना चमकदार है, अंदर से उतना ही धूसर और कालिख भरा है। आज से पहले सरल यथार्थ का समय था। उन्होंने कहा कि

आज बहुत बड़ा मध्यवर्ग तैयार हुआ है। आज के कहानीकारों ने कहानी की भाषा और शिल्प को बदला है। कथाकार जयनंदन ने कहा कि आज हिंदी में अच्छी कहानियां लिखी जा रही हैं। उन्होंने जोर देकर कहा कि हिंदी में लिखकर रोटी नहीं कमाई जा सकती जबकि अंग्रेजी में ऐसा संभव है।

युवा कथाकार दुस्न तबस्सुम निहां ने मुस्लिम समाज की महिला लेखकों को होने वाली पारिवारिक दिक्कतों का उल्लेख किया। उन्होंने शिकायत के अंदाज में कहा कि साहित्यिक जगत मुस्लिम लेखिकाओं को नकार रहा है।

वरिष्ठ कथाकार और विश्वविद्यालय की पत्रिका हिंदी (लैंग्वेज डिस्कोर्स राइटिंग) की संपादक ममता कालिया ने कहा कि हिंदी कथा साहित्य का अगला समय वही है कि इस समय के दौरान प्रकाशित कहानियां हमें याद रह जाएं। प्रियदर्शन मालवीय ने कहा कि हिंदी के कहानीकार जोखिम उठाना नहीं चाहते और बच-बचाकर चलते हैं। सच्चाई यह है कि जोखिम न उठाना ही हिंदी कहानी की मुख्य समस्या है। हम जटिल प्रश्नों से टकराना नहीं चाहते। चंदन पांडे ने अपने वक्तव्य में हिंदी कथा परिदृश्य का एक खाका प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि जातिवाद और सांप्रदायिकता के जहर पर हिंदी में नगण्य लेखन मिलता है। भ्रष्टाचार के नाम पर आज तक हमारे पास श्रीलाल शुक्ल का 'रागदरबारी' और विभूति नारायण राय का 'तबादला' को लेकर कुल दो उपन्यास ही हैं। आज हिंदी कथा साहित्य की पाठकों तक पहुंच बहुत चिंतनीय है जबकि हिंदी पट्टी में 10-15 करोड़ की आबादी वाला मध्यवर्ग है। कथा साहित्य पर केंद्रित सत्र का संचालन युवा कथाकार मनोज कुमार पांडेय ने किया। साठोत्तरी कहानी के प्रतिनिधि कथाकार काशीनाथ सिंह इस दौरान मंच पर उपस्थित थे। कथा साहित्य पर हुई बहस में कथाकार कैलाश वनवासी, मो. आरिफ, मनोज रूपड़ा, रमणिका गुप्ता, आनंद हर्षुल, सृजय, शिवमूर्ति ने भी अपने विचार व्यक्त किए।

हाशिए का समाज कविता का केंद्र : बद्रीनारायण

चर्चित कवि बद्रीनारायण ने बद्रीनारायण ने हिंदी कविता पर आयोजित सत्र में कहा कि हाशिए का समाज ही कविता का केंद्र है। अपने उत्स से कटकर कोई भी कविता जीवित नहीं रह सकती। भूमंडलीकरण के दबावों के बीच लालचहीन हाशिए के समाज से आने वाले लोग ही कविता को उसकी अपनी वाजिब जगह दिलाएंगे। प्रख्यात कवि उपेंद्र कुमार ने कहा कि कविता से पाठक दूर नहीं हुआ है। यह भ्रम प्रकाशकों के द्वारा फैलाया जा रहा है। हर अच्छी कविता सुनने वाले के मन में एक स्पंदन पैदा करती है। यह शाश्वत मानवीय संवेदनाओं की वाहक है। प्रो. रामअहलाद चौधरी ने रेखांकित किया कि कविता परंपरा का पानी है, जिस तरह दरिया को नहीं बांटा जा सकता उसी तरह कविता भी नहीं बंट सकती। बंटवारे के बाद फैज अहमद फैज पाकिस्तान चले गए पर उनकी कविता का बंटवारा नहीं हो सका। कविता जख्मी लोगों को ताकत देती है। गीतकार विजय किशोर मानव ने कहा कि कविता समय के साथ बदलती है। हर युग की कविता अपने समय के साथ संवाद करती है। मिथिलेश श्रीवास्तव ने काव्य छवियों के माध्यम से वर्तमान जीवन यथार्थ को बहुत ही संवेदनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया। प्रताप राव कदम ने कहा कि कविता को उसके युगीन परिवेश में देखने की जरूरत है। इस अवसर पर रवींद्र स्वप्निल प्रजापति, श्रीमती बृजबाला शर्मा और कुमार वीरेंद्र ने भी अपने वक्तव्य रखे। अध्यक्षीय टिप्पणी में प्रख्यात कवि शेरजंग गर्ग ने कहा कि संवेदना और मानवीय सरोकारों से युक्त कविता ही शाश्वत रहती है। यह मनुष्य को नष्ट

होने से बचाती है। यह मानवता की रक्षा के लिए बनी है। सत्र का संचालन विश्वविद्यालय के साहित्य विद्यापीठ के अध्यक्ष प्रो. के. के. सिंह ने किया।

आलोचना की प्रवृत्ति भी विकसित करनी होगी : प्रो. नामवर सिंह

हिंदी आलोचना के शिखर पुरुष प्रो. नामवर सिंह ने कहा कि हम लोग आजकल हिसाब चुकता करने में लगे हैं। समालोचक आज अपना दायित्व भूल चुका है। वह किसी रचना की समालोचना हृदय से नहीं कर पा रहा है। समालोचक को खुद अपनी आलोचना भी करने की प्रवृत्ति विकसित करनी होगी।

रामचंद्र शुक्ल सभागार में आयोजित 'हिंदी आलोचना' सत्र में प्रख्यात आलोचक प्रो. निर्मला जैन ने कहा कि कोई भी रचनाकार अपनी रचना की आलोचना सुनना नहीं चाहता। उन्होंने कहा कि आलोचकों से सैद्धांतिकी के निर्माण की अपेक्षा करना गलत है। आलोचना को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के मानदंडों में भी नहीं बांधा जा सकता है। प्रो. जैन ने कहा कि देशज तत्वों को छोड़कर आलोचना नहीं की जा सकती। पाठकों में रचना के प्रति जागृति पैदा करना भी आलोचकों का ही दायित्व है। रचना और आलोचना के बीच समय का अंतराल जरूरी है।

वरिष्ठ आलोचक खगेंद्र ठाकुर ने कहा कि समाज में जनतंत्र के विकास के साथ ही लोकतंत्र का विकास जुड़ा है। किसी भी रचना का यथार्थ बाहर होता है। उसका सत्यापन आलोचक के लिए जरूरी है। आज की आलोचना कमजोर पड़ रही है क्योंकि आलोचक सत्ता उन्मुख हो गए हैं। ठाकुर ने कहा कि आलोचना और सत्ता एक साथ नहीं चल सकती। उन्होंने प्रेमचंद की रचना को सामने रखते हुए कहा कि उनकी तमाम रचनाओं के सामाजिक यथार्थ हैं। समाज की विसंगतियां उनकी रचनाओं में दिखती हैं।

कवि श्याम कश्यप ने कहा कि आज संकट आलोचना का नहीं है, बल्कि आलोचकों का है। आलोचक अपने संकट को आलोचना का संकट बता देते हैं। कथा आलोचक एवं हिंदी विद्यापीठ के अधिष्ठाता प्रो. सूरज पालीवाल ने इस बात को लेकर चिंता जताई कि आज हिंदी समालोचना का स्वरूप नहीं बन पा रहा है। कविता के नए प्रतिमान के बाद हिंदी आलोचना में घालमेल की स्थिति बन गई है। चर्चा के दौरान राहुल सिंह, अवधेश मिश्र ने भी आलोचना को लेकर महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किए। सत्र का संचालन स्त्री अध्ययन विभाग के अध्यक्ष एवं एसोसिएट प्रोफेसर शंभु गुप्त ने किया। 'कथेतर गद्य और अन्य विधाएं' सत्र उमाकांत चौबे के संचालन में हुआ, जिसमें विषय पर चर्चा के दौरान हुई बहस में 'पुस्तक वार्ता' के संपादक भारत भारद्वाज, पराग मांदले, पुष्पराज, गौतम सान्याल सहित कई लोगों ने हिस्सा लेकर विस्तार से विचार मंथन किया।

2 फरवरी

चेतना से कलम का सिपाही बनना है : वरवर राव

दूसरे दिन हिंदी साहित्य में हाल के वर्षों में अपनी जोरदार उपस्थिति दर्ज कराने वाले नए विमर्शों 'स्त्री अस्मिता', 'दलित अभिव्यक्ति', 'आदिवासियों का सवाल' व 'अन्य जनांदोलन' विषय पर आयोजित सत्रों में विचारोत्तेजक बहस हुई। क्रांतिकारी चिंतक वरवर राव ने 'अन्य जनांदोलन' सत्र में कहा कि समाज और व्यवस्था को बदलने के लिए आंदोलन होने चाहिए। उन्होंने कहा कि देश में महिला, आदिवासी और विस्थापितों के आंदोलन चल रहे हैं। देश के कई हिस्सों में व्याप्त

असमानता को भी बातचीत का विषय बनाया जाना चाहिए। आंध्र और महाराष्ट्र के कई हिस्सों में काफी असमानता है। उन्होंने कहा कि आज हम नंदीग्राम, सिंगुर, या छत्तीसगढ़ में हो रहे विस्थापन पर बात नहीं करते। आज भी अस्पृश्यता और अछूत का दौर महाराष्ट्र में चल रहा है। राव ने लेखकों को उनकी भूमिका याद दिलाते हुए कहा कि हमारा ध्यान इस पर होना चाहिए कि हमें पूंजी का दास बनना है या चेतना से कलम का सिपाही बनना है। प्रगतिशील लेखक संघ की भूमिका आज समाप्त हो रही है जो कि चिंतनीय है। जनांदोलन से जुड़े अरविंद अंजुम ने अपनी बात झारखंड के संदर्भ में रखी। उन्होंने कहा कि पहले हमारी धारणा थी कि विकास के लिए बलिदान जरूरी है। उन्होंने एक महत्वपूर्ण बात कही कि जनांदोलन में विचारधारा का अभाव है और मुद्दे हावी हैं इसलिए जरूरी है कि इसका वैचारिक आधार पुख्ता किया जाए। 'नंदीग्राम डायरी' के चर्चित लेखक पुष्पराज ने कहा कि आज पूरे मीडिया में कहीं से भी एक संपादक नहीं कहता कि आप जनांदोलन पर लिखिए। उन्होंने बताया कि पश्चिम बंगाल के नंदीग्राम में संघर्षरत लोग कहते थे- 'जान देबो जमीन देबो ना' मैं ऐसे लोगों की बात लिखने वाला पत्रकार हूँ। आप राजसत्ता के साथ रहना चाहते हैं या आम जनता के साथ यह खुद आपको तय करना होगा। उन्होंने कहा कि जन आंदोलन की पत्रकारिता होनी चाहिए और कलम के सिपाहियों की फौज खड़ी होनी चाहिए। युवा कथाकार सत्यनारायण पटेल ने कुछ अधिक तल्ख अंदाज में अपनी बात मध्य प्रदेश में हो रहे जन आंदोलनों के संदर्भ में रखी। उन्होंने कहा कि चकाचौंध दुनिया को एक अंधेरे भरी आबादी के गटर में धकेल रही है। इक्कीसवीं सदी का संघर्ष मनुष्यों और धन पशुओं के बीच है। प्रो. रमेश दीक्षित ने कहा कि अभिव्यक्ति की जो आजादी भारत में है वह किसी दूसरे देश में नहीं है। उन्होंने कहा कि परिवर्तन की संभावना संसदीय लोकतंत्र सबसे अधिक है और हमें उसका भरसक इस्तेमाल करना चाहिए। आज बाजारवादी शक्तियों का प्रतिरोध नहीं हो रहा है, जिसका प्रतिरोध किए जाने की ज्यादा जरूरत है। उन्होंने कहा कि भारत अमेरिकी पूंजीवाद का एजेंट नहीं है। कथाकार और चिंतक प्रेमपाल शर्मा ने संक्षेप में कहा कि भारत में पिछले दो वर्षों में जन आंदोलनों के लिए कुछ जमीन तैयार हुई है और संभावना है कि यह सिलसिला आगे भी चलता रहेगा। हरियाणा में 'साहित्य उपक्रम' प्रकाशन के जरिए साहित्य के लिए माहौल बनाने वाले विकास नारायण राय ने कहा कि भाषा और साहित्य दो अलग-अलग चीजें हैं। उन्होंने कहा कि आज अच्छा साहित्य लिखा जा रहा लेकिन वह वह लाखों पाठकों तक नहीं पहुंच पा रहा है। उन्होंने कहा कि साहित्य में बहुत ताकत है बस जरूरत है उसको आम जनता तक पहुंचाने की। वरिष्ठ आलोचक खगेंद्र ठाकुर ने सत्र में हुई बहस पर विस्तार से टिप्पणी की। इस विचारोत्तेजक सत्र का संचालन वरिष्ठ पत्रकार व चिंतक प्रो. रामशरण जोशी ने किया।

असमानता का विरोध जरूरी : सुशीला टॉकभौरे

स्त्री विमर्श की शुरुआत पश्चिम से नहीं बल्कि भारत में ही हुई है। यह विमर्श अब किसी प्रदेश विशेष में ही सीमित न रह कर देश के सुदूर क्षेत्र में पहुंच गया है। यह बात प्रो. के. एम. मालती ने 'स्त्री अस्मिता' पर महादेवी वर्मा कक्ष में आयोजित चर्चा के दौरान अध्यक्षीय टिप्पणी करते हुए कही। विश्वविद्यालय के स्त्री अध्ययन विभाग की प्रो. वासंती रमन ने कहा कि स्त्री की पहचान दूसरे की पहचान के साथ जुड़ी होती है चाहे वह जाति से हो या धर्म से। स्त्री-अध्ययन और महिला आंदोलन को जोड़कर देखें तो उसके रास्ते और भी निकलेंगे। उन्होंने नामवर सिंह द्वारा स्त्रियों और

दलितों के विषय में व्यक्त किए गए विचार का समर्थन किया। सुधा सिंह ने कहा कि हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में महिलाओं के लेखन की चर्चा नहीं है, इसमें हमें यह भी याद रखना होगा कि गांधीजी के अहिंसा और सत्याग्रह आंदोलन में स्त्रियों का योगदान एक औजार की तरह था लेकिन 1950 के बाद स्त्रियों ने दंगों का दंश भी झेला फिर आगे स्त्रियां घर की चारदीवारी में बंधकर रह गईं। स्त्रियों को पूरी तरह सशक्त होने के लिए राजनीतिक संगठनों से जुड़ने की भी आवश्यकता है। सुशीला टॉकभौरे ने कहा कि स्त्रियों का संरक्षण उसके लिए एक नियंत्रण की तरह है। दलित साहित्य के अस्तित्व पर बात करते हुए उन्होंने कहा कि यह साहित्य सबसे पहले महाराष्ट्र में मराठी भाषा में आया। दलित स्त्री लेखन में चेतना और उत्पीड़न की बात होती है। वह पूरी तरह से जागृत रहती है, जबकि गैर-दलित महिला लेखन में ऐसा नहीं है। जिस धर्म में स्त्री की की प्रताड़ना होती है, उस असमानता का विरोध लेखन में जरूरी है। समाज की मानसिकता जातिवाद से नहीं बदली जा सकती बल्कि उन्हें खुद को बदलना होगा। अंत में उन्होंने कहा कि 'स्त्री स्वयं एक व्यक्ति है और वह जब स्वयं निर्णय ले, तभी वह सबल हो सकती है। स्त्री अध्ययन विभाग की सहायक प्रोफेसर सुप्रिया पाठक ने कहा कि स्त्री अध्ययन पाठ्यक्रम महिलाओं को एक स्थान प्रदान करता है। जब तक सारे समाज को मिलाकर विचार नहीं करेंगे तब तक कोई भी विमर्श सत्यापित नहीं हो सकता। अधिवक्ता सर्वेश जैन ने दलित महिला के साथ न्याय की बात कही। उन्होंने कहा कि स्त्रियों के सशक्तीकरण के लिए पुरुषों को मानसिकता बदलने की जरूरत है। कार्यक्रम का संचालन स्त्री अध्ययन विभाग के सहायक प्रोफेसर शरद जायसवाल ने किया।

दलित साहित्य की हो रही है क्लोनिंग : प्रो. तुलसीराम

'दलित अभिव्यक्ति' सत्र में 'मुर्दहिया' आत्मकथा के लेखक तुलसीराम ने कहा कि दलित साहित्य में नेतृत्व का प्रश्न खड़ा हो गया है। भारतीय साहित्य में दलित साहित्य के प्रभाव को देखते हुए कुछ लोग दलित साहित्य की क्लोनिंग कर रहे हैं। तुलसीराम ने बाबा साहेब भीमराव आंबेडकर और दलित साहित्य को अपने भाषण के केंद्र में रखते हुए कहा कि शिक्षित समाज की ही अभिव्यक्ति हो सकती है। ऐसा समाज अपना दुःख, दर्द विभिन्न मंचों से व्यक्त कर सकता है। मजदूर और गरीबों पर कोई ध्यान नहीं देता क्योंकि वह अपने आपको अभिव्यक्त नहीं कर सकता। समाज में स्थापित कुछ संगठन अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को आघात पहुंचा रहे हैं, इसे कल्चरल पोलिस की संज्ञा देते हुए उन्होंने इशारा किया कि ऐसी स्थिति में अभिव्यक्ति की आजादी का सवाल हमारे सामने बड़ी चुनौती के रूप में उभर रहा है। आशीष नंदी प्रकरण की चर्चा करते हुए तुलसीराम ने कहा कि नंदी का बयान एकदम गलत है परंतु मुकदमें चलाकर ऐसे सवाल हल नहीं हो सकते। अच्छे साहित्य के लिए स्पर्धात्मक अभिव्यक्ति की जरूरत है। आत्मकथा और दलित साहित्य के संबंध को रेखांकित करते हुए उन्होंने कहा कि दलित आत्मकथा केवल दलित ही लिख सकता है। उन्होंने आर्यों का भारत आना, गांधी आंबेडकर संबंध, आंबेडकर, कालमाक्स विमर्श आदि के हवाले से अपनी बात रखी। उन्होंने आंबेडकर साहित्य के अनुवादक चांगदेव खैरमोडे की पुस्तकों का उल्लेख करते हुए मेनिफेस्टो ऑफ शेड्यूल कास्ट, लैंड नेशनलाइजेशन, लेबर पार्टी आदि की भी चर्चा की। कृष्णा किरवले ने महाराष्ट्र और दलित साहित्य का उल्लेख करते हुए कहा कि यहां दलित साहित्य की चौथी पीढ़ी चल रही है। इन तमाम पीढ़ियों के लेखन में दलित साहित्य ही मुखर है। वर्तमान समय में दलित साहित्य को सम्यक साहित्य, आंबेडकरी सम्मेलन, विद्रोही सम्मेलन, समतावादी सम्मेलन

जैसे नाम दिए जा रहे हैं। यह साहित्य एक जाति का नहीं अपितु सभी जातियों का एक संयुक्त समूह है। लिखने वालों की प्रेरणा आंबेडकर रहे हैं और यह साहित्य तलवार की बजाए लेखनी को हथियार मानता है। स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय में दलित अभिव्यक्ति पर हुई बहस में जे. वी. पवार, जयप्रकाश कर्दम, कृष्णा किरवले, जयनंदन, प्रो. हेमलता माहेश्वर, डॉ. निशा शेंडे आदि वक्ताओं ने भी अपने विचार रखे। सत्र का संचालन दूर शिक्षा निदेशालय के सहायक प्रोफेसर संदीप सपकाले ने किया।

आदिवासियों की जमीन छीनी जा रही है : रमणिका गुप्ता

‘आदिवासियों का सवाल’ सत्र में लेखिका रमणिका गुप्ता ने कहा कि भारत के लोगों का आदिवासियों के प्रति क्या नजरिया है? आदिवासियों से आज जल, जंगल, जमीन विकास के नाम पर छीना जा रहा है। सच तो यह है कि आज का जो विकास है वह आदिवासियों की भाषा में विनाश है। आज हम अपने ही घर में परदेसी हो गए हैं। विस्थापन, जमीन, पलायन यह आज आदिवासियों की मुख्य समस्या है। उन्होंने कहा कि जनजाति शब्द का हमें विरोध करना चाहिए। आज भाषा नष्ट हो रही है लेकिन आदिवासी, किसान, मजदूर भाषा को जिंदा रखता है। भाषा रोजगार के लिए लिखनी चाहिए, लेकिन अपनी मातृभाषा को भूलना नहीं चाहिए। पर्यावरण की रक्षा अगर कोई करता है तो वह केवल आदिवासी है।

चितक हरिराम मीणा ने कहा कि समाज का गठन एक दल से होता है। भारत में आदिवासी सबसे पुराने रहवासी हैं। आदिवासी स्वभाव से शांत था लेकिन लोगों के छेड़ने की वजह से विद्रोही हो गया है। एक इतिहासकार को आधुनिककाल का ध्यान रखना होगा। आदिवासी जब चलता है, तो नाचने, गाने लगता है, बोलने लगता है। ऐसा लगता है कि यह उसकी कला है। आदिवासी अपना निर्णय सामूहिक रूप से लेते हैं। आदिवासियों में ‘में’ का चक्कर नहीं ‘हम’ का है। आज लोगों को भ्रम है कि आदिवासी विकास नहीं करना चाहता, इस मानसिकता को बदलना होगा। आज आदिवासियों की अस्मिता का सवाल है। उन्होंने कहा कि आखिर यह सारे पृथ्वी का संकट है। रामचंद्र शुक्ल कक्ष में संपन्न हुए सत्र का संचालन साहित्य विद्यापीठ की एसोसिएट प्रोफेसर डॉ. प्रीति सागर ने किया। आदिवासियों का सवाल पर हुई बहस में हरिराम मीणा, रमणिका गुप्ता, डॉ. संदीप कुमार, मनमोहन पाठक ने भी अपने विचार व्यक्त किए।

3 फरवरी

पत्रकारिता हाशिए के लोगों की जुबान बने : अरुण कुमार त्रिपाठी

तीसरे दिन मीडिया के विभिन्न माध्यमों यथा- ‘हिंदी प्रिंट पत्रकारिता’, ‘इलेक्ट्रॉनिक पत्रकारिता’, ‘ब्लॉग-इंटरनेट’ और ‘वैकल्पिक पत्रकारिता’ पर खासी महत्वपूर्ण बहस हुई। वरिष्ठ पत्रकार और ‘डीएनए’ के संपादक अरविंद चतुर्वेद ने हिंदी प्रिंट पत्रकारिता सत्र में चल रही बहस में कहा कि हिंदी पत्रकारिता आज मंचमुखी है जबकि उसे जनोन्मुखी होना चाहिए। चतुर्वेद ने कहा कि हिंदी पत्रकारिता को अपने भाषिक समाज के सरोकारों से जुड़ना चाहिए। वरिष्ठ पत्रकार और ‘कल्पतरु एक्सप्रेस’ के संपादक अरुण कुमार त्रिपाठी ने बीज वक्तव्य देते हुए कहा कि पत्रकारिता को हाशिए के लोगों की जुबान बनना चाहिए। किसानों, आदिवासियों और ग्रामीण समाज के बुनियादी सवाल उठाकर पत्रकारिता अपनी बेहतर भूमिका सुनिश्चित कर सकती है। ‘लोकमत

समाचार' नागपुर के संपादक विकास मिश्र ने कहा कि आज प्रिंट पत्रकारिता के सामने सबसे बड़ी चुनौती यह है कि पत्रकारों की जो नई पीढ़ी आ रही है, वह योग्य नहीं है। पुरानी पीढ़ी के संपादकों ने अपने योग्य उत्तराधिकारी भी नहीं बनाए। आज नए पत्रकारों के पास भाषा का भी पर्याप्त ज्ञान नहीं है। वरिष्ठ पत्रकार सी. के. नायडू ने कहा कि आज हिंदी पत्रकारिता हिंग्लिश पत्रकारिता बन गई है। उन्होंने एक खबर पढ़कर इसका उदाहरण भी दिया। वरिष्ठ पत्रकार विजय किशोर मानव ने कहा कि चालीस साल पत्रकारिता करने के बाद उन्हें आज लगता है कि नई वेब पत्रकारिता की संभावना उनके सामने बनी हुई है। 'आउटलुक' हिंदी के संपादक नीलाभ मिश्र ने कहा कि आज पूंजी का दबाव हिंदी पत्रकारिता पर बहुत ज्यादा बढ़ गया है। उन्होंने कहा कि आज पत्रकारिता में भाषा के अलावा पेड न्यूज समेत कई विकृतियां आ गई हैं। सन्मार्ग के सहायक संपादक अभिजात ने कहा कि अंग्रेजी अखबारों की पृष्ठ संख्या बहुत ज्यादा होती है जबकि हिंदी अखबारों की पृष्ठ संख्या कम होती है, इसके बावजूद विज्ञापन का प्रवाह इसके उलट होता है। श्याम कश्यप ने कहा कि विश्व कई संकटों से जूझ रहा है। पत्रकारिता का संकट उससे अलग नहीं है। वरिष्ठ पत्रकार प्रकाश चंद्रायण ने अपने आलेख में पत्रकारिता के इतिहास में झांकते हुए उसके स्वरूप में आए बदलावों पर विस्तृत चर्चा की। सत्र के संचालक और विश्वविद्यालय के कोलकाता केंद्र के प्रभारी डॉ. कृपाशंकर चौबे ने कहा कि आज प्रिंट पत्रकारिता के सामने जो संकट हैं, उनकी पहचान यदि हम कर रहे हैं तो यही आश्वासन है कि हम उसका समाधान भी ढूंढ लेंगे।

इलेक्ट्रॉनिक पत्रकारिता का भविष्य उज्ज्वल

हबीब तनवीर सभागार में हिंदी इलेक्ट्रॉनिक पत्रकारिता सत्र का निष्कर्ष रहा कि तमाम अंधेरा होने के बाद हिंदी इलेक्ट्रॉनिक पत्रकारिता का भविष्य उज्ज्वल है। सत्र में बीज वक्तव्य देते हुए नेशनल ब्रॉडकास्टर्स एसोसिएशन के महासचिव एन.के. सिंह ने कहा कि हिंदी विज्ञापनों के माध्यम से बाल मनोदशा को बदलने का कार्य किया जा रहा है। उन्होंने कहा कि टेलीविजन विज्ञापनों में जिस प्रकार की हिंदी का प्रयोग किया जा रहा है उसे भारतीय समाज कभी स्वीकार नहीं करता। भारत में हिंदी के मजबूत होने का उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा कि भारत में 8 करोड़ लोग इंटरनेट सेवामुक्त मोबाइल फोन का इस्तेमाल करते हैं। जिस दिन पूरी तरह से मोबाइल में हिंदीयुक्त सुविधा उपलब्ध हो जाएगी, हिंदी काफी मजबूत हो जाएगी। सिंह ने कहा कि मीडिया को रेगुलेट करने की वकालत की जाती है, लेकिन पहले से ही सरकार ने तीन दर्जन से अधिक कानून बना रखे हैं, जरूरत है आत्मनियंत्रण करने की। आत्मनियंत्रण कर मीडिया खुद की गलतियों को सुधार सकता है। सिंह ने सोशल मीडिया के दुरुपयोग की ओर भी सभी का ध्यान आकृष्ट कराया। उन्होंने कहा कि इन दिनों सोशल मीडिया के माध्यम से सुनियोजित दंगे करवाए जा रहे हैं। हाल ही में उत्तर प्रदेश के बुलंदशहर में हुए दंगे का जिक्र कर उन्होंने कहा कि दंगे में शामिल लोगों ने घटना की सच्चाई जानने का प्रयास ही नहीं किया।

सत्र का संचालन कर रहे मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ के अधिष्ठाता प्रो. अनिल के राय अंकित ने कहा कि हिंदी की भूमिका दिनोंदिन बढ़ती जा रही है लेकिन इसी के साथ-साथ हिंदी का बाजारीकरण भी होता जा रहा है। ऐसे में यह सवाल उठता है कि हम कौन-सी हिंदी को प्रयोग में लाएं बाजार की हिंदी या सामान्य बोलचाल की हिंदी? चौथी दुनिया की पत्रकार रूबी अरुण ने कहा कि हिंदी के साथ सबसे बड़ी समस्या है कि हिंदी भाषियों ने इसे अपनी

अस्मिता से नहीं जोड़ा, जिस कारण हिंदी रोजगार की भाषा नहीं बन सकी। उन्होंने कहा कि आजादी के छह दशक बाद भी हिंदी राष्ट्रभाषा के बजाय राजभाषा ही बनी है। भाषा को सरल और सहज करने की वकालत करते हुए रूबी ने कहा कि, जिस दिन हिंदी सामान्य लोगों के द्वारा अपना ली जाएगी, उस दिन हिंदी के लिए किसी प्रकार के गोष्ठियों के आयोजन की आवश्यकता नहीं होगी। प्रख्यात टीवी पत्रकार मुकेश कुमार ने हिंदी के हो रहे बाजारीकरण पर चिंता व्यक्त करते हुए कहा कि हिंदी को नवउपनिवेशवादी ताकतें अपना हथियार बना रही हैं। उन्होंने कहा कि बाजार का हिंदी से प्रेम हिंदी के पक्ष में नहीं है। हिंदी बोलने वाले लोगों का बड़ा बाजार होने के कारण मसालेदार और चटपटी हिंदी का प्रचलन देखने को मिल रहा है। श्री कुमार ने हिंदी को मुक्ति की भाषा बनाने की आवश्यकता जताई। श्याम कश्यप ने कहा कि मीडिया पर बाजार पूरी तरह से हावी हो गया है। उन्होंने बाजार के बढ़ते प्रभाव को मीडिया के अस्तित्व के लिए खतरा बताया। उन्होंने इसे रोकने की आवश्यकता जताई। ईटीवी के देव पुखराज ने कहा कि मीडिया से आम आदमी गायब होता जा रहा है। आम आदमी के दर्द को कोई भी मीडिया संस्थान नहीं दिखाता। उन्होंने पत्रकारिता के छात्रों से अपील करते हुए कहा कि पत्रकारिता रोब जमाने वाला पेशा नहीं है। इसमें काम के लिए संवेदनशील होने के साथ-साथ जन सरोकारों का भी ध्यान रखना चाहिए। समापन वक्तव्य में न्यूज 24 चैनल के संपादक अजीत अंजुम ने कहा कि हमें हिंदी की इलेक्ट्रॉनिक पत्रकारिता से नाउम्मीद होने की आवश्यकता नहीं है। देश में अंग्रेजी के सिर्फ तीन चैनल हैं जबकि हिंदी चैनलों की संख्या सैकड़ों की तादाद में है। उन्होंने विद्वानों द्वारा मीडिया पर बाजार के दबाव की चिंता को खारिज करते हुए कहा कि मीडिया पर दबाव शुरुआत से ही रहा है। इसके बावजूद सजग पत्रकारों ने जनसरोकारों को ध्यान में रखा है। तमाम मीडिया घराने पूंजीपतियों के हैं लेकिन बाजार कभी प्रभावी नहीं रहा है।

इंटरनेट की ताकत तेजी से बढ़ी है : सूरज प्रकाश

प्रख्यात कथाकार सूरज प्रकाश ने 'ब्लॉग/ इंटरनेट' पर हुई बहस के दौरान अध्यक्षीय टिप्पणी में कहा कि इंटरनेट की दुनिया में ब्लॉग, वेबसाइटें, फेसबुक, ट्विटर, गुगल सर्च और बड़ी संख्या में अन्य वेबसाइटें हैं। उन्होंने कहा कि पिछले कुछ वर्षों में इंटरनेट की ताकत बहुत तेजी से बढ़ी है और दिन ब दिन इन माध्यमों से बड़ी संख्या में लोग जुड़ रहे हैं। उन्होंने विस्तार से इन माध्यमों की उपयोगिता और कमजोरियों पर टिप्पणी की। उन्होंने कहा कि आज इंटरनेट पर कई बड़ी व्यापारिक वेबसाइटें हैं, जिन पर आदेश देकर घर बैठे कोई भी सामान मंगवाया जा सकता है। प्रकाश ने कहा कि आज इंटरनेट पर अंग्रेजी की शब्दावली धड़ल्ले से इस्तेमाल हो रही है। समता भवन के डी. डी. कौसांबी कक्ष में 'ब्लॉग/ इंटरनेट' पर आयोजित सत्र की शुरुआत करते हुए 'बहुवचन' त्रैमासिक के संपादक और सत्र के संचालक अशोक मिश्र ने पिछले पंद्रह वर्षों के दौरान प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के बाद सामने आया तीसरा बड़ा माध्यम 'ब्लॉग/ इंटरनेट' किस तरह अभिव्यक्ति को एक नया मंच दे रहे हैं, उस पर विस्तार से प्रकाश डाला। कथाकार चंदन पांडे ने कहा कि आज सामूहिकता का विकास इंटरनेट के माध्यम से हुआ है और इन माध्यमों ने प्रिंट पत्रकारिता के समक्ष एक नई चुनौती पेश की है। उन्होंने कहा कि किस तरह अन्ना आंदोलन के दौरान फेसबुक और ट्विटर जैसे माध्यमों के जरिए एक मध्यवर्ग के नौजवानों को आंदोलन से जोड़ा गया। ब्लॉगर मनीष मिश्र ने कहा कि ब्लॉग, इंटरनेट एक ऐसी फिरती लाइब्रेरी है, जिसे कहीं भी, कभी भी इस्तेमाल कर सकते हैं। उन्होंने कहा कि आत्मकेंद्रियता के बीच खुद को व्यस्त रखने

का माध्यम इंटरनेट है। सुप्रसिद्ध कथाकार धीरेंद्र अस्थाना ने कहा कि इंटरनेट पर कोई भी लेखक बन जाता है चाहे उसे लेखन का 'ल' भी पता ना हो। प्रख्यात कथाकार शिवमूर्ति ने कहा कि फेसबुक पर कई बार दोस्ती के बजाए सामान खरीदने के निवेदन सामने आने लगते हैं। उन्होंने कहा कि इंटरनेट को अलादीन का चिराग भी कहा जा सकता है। युवा कथाकार अनुज ने कहा कि हमें साहित्य के लोकतंत्र में विश्वास रखना चाहिए। उन्होंने कहा कि अगर इंटरनेट पर कूड़ा कचरा लेखन सामने आ रहा है तो समय की छन्नी उसे आगे चलकर चालकर अलग कर देगी। शोध छात्र शंभू शरण गुप्त ने शिकायत के अंदाज में कहा कि आज अखबार में विज्ञापन अधिक समाचार कम हैं। खबरें विज्ञापन के बोध से दबी पड़ी हैं। एक सत्र में 'वैकल्पिक पत्रकारिता' पर राम अहलाद चौधरी के संचालन में बहस हुई, जिसमें प्रख्यात कथाकार और समयांतर के संपादक पंकज विष्ट, राजकिशोर, महेंद्र गगन, राजकिशोर, मुकेश वर्मा, मधु कांकरिया, पंकज विष्ट, स्वाधीन, पाखी के संपादक प्रेम भारद्वाज और लोकायत संपादक बलराम ने हिस्सा लिया।

4 फरवरी

आज पैसे के लिए बनती हैं फिल्में : मोहन आगाशे

चौथा दिन नाटकों और सिनेमा को समर्पित था। 'हिंदी का मुख्यधारा सिनेमा' सत्र की अध्यक्षता कर रहे मोहन आगाशे ने कहा कि पहले लोग फिल्मों समाज के लिए बनाते थे आज पैसे के लिए बनाते हैं। मुख्यधारा के सिनेमा ने भाषा की संप्रेषणीयता, संवेदनशीलता, बिंबों, एवं प्रतीकों का बड़ी खूबी से व्याख्यायित किया है। पहले जब फिल्म ट्रेनिंग स्कूल नहीं थे तब भी अच्छी फिल्में बनती थीं और आज भी बन रही हैं। उन्होंने कहा कि भारत में जहां अशिक्षा है वहां फिल्म मनोरंजन तो करती है लेकिन उसकी बड़ी सामाजिक जिम्मेदारी भी है। हबीब तनवीर सभागार में संचालन सूत्र संभालते हुए प्रो. सुरेश शर्मा ने विस्तार से विषय पर प्रकाश डाला। कथाकार और सिनेमा पत्रकार धीरेंद्र अस्थाना ने कहा कि सिनेमा कहानी के घर में लौट रहा है। उन्होंने कहा कि जो रचेगा वही बचेगा यह कहानी पर ही नहीं बल्कि सिनेमा पर भी लागू होता है। सांस्कृतिक पत्रकार अजित राय ने कहा कि मुंबईया सिनेमा जिस तरह देश को बरबाद कर रहा है, वह देखते ही बनता है। यहां नकलची फिल्मकार अधिक हैं। उन्होंने जोर देकर कहा कि 1980 के बाद विशेषकर हिंदी सिनेमा में एक भी ढंग की फिल्म नहीं बनी है, जिसकी चर्चा की जा सके। सिनेमा चिंतक प्रहलाद अग्रवाल ने कहा कि मैं 1955 से लगातार हिंदी सिनेमा देख रहा हूँ लेकिन कभी भी निराश नहीं हुआ। उन्होंने कहा कि सिनेमा उस आदमी का माध्यम है, जो थका हुआ है और उसका मनोरंजन करना आसान काम नहीं है। कमलेश पांडेय ने कहा कि फिल्म की असली ताकत है, वह सब कुछ दिखा सकती है चाहे वह साहित्य हो या अन्य कोई विषय। श्री पांडेय ने कहा कि हमारा सिनेमा, न यूरोप से आया है, न अमेरिका से आया है बल्कि हमारी अपनी मौलिक परिकल्पना और विचार है। उन्होंने हिंदी साहित्यकारों पर आरोप लगाया कि उन्होंने फिल्मों के साथ नाईसाफी की। इस सत्र में रविकांत और आजाद भारती ने भी अपने विचार व्यक्त किए। बहस के दौरान सभागार में कुलपति विभूति नारायण राय, दिनेश कुमार शुक्ल, अजेय कुमार की विशेष उपस्थिति रही। इसी दिन 'प्रतिरोध का सिनेमा' विषय पर एक सत्र में बहस हुई, जिसमें शाहआलम, किशोर वासवानी और झरना जावेरी ने अपने विचार व्यक्त किए। सत्र का संचालन सहायक प्रोफेसर अमरेंद्र कुमार शर्मा ने किया। एक और सत्र 'मुख्यधारा का नाटक/ प्रतिरोध का नाटक' विषय पर संपन्न हुआ। सत्र की अध्यक्षता कर रहे प्रख्यात आलोचक खगेंद्र ठाकुर ने कहा कि नाटककार की स्वतंत्रता भी बरकरार रहनी चाहिए। श्री

ठाकुर ने कहा कि यदि निर्देशक स्वतंत्रता चाहता है तो खुद भी नाटक लिख सकता है। उन्होंने यथार्थवादी लेखकों की परंपरा में भारतेंदु हरिश्चंद्र और जयशंकर प्रसाद का उल्लेख किया। फिल्म अध्ययन एवं नाट्यकला विभाग के एसोसिएट प्रोफेसर ओमप्रकाश भारती के संचालन में हुई चर्चा में नाट्य लेखिका कुसुम कुमार एवं सहायक प्रोफेसर विधु खरे दास ने भी हिस्सा लिया। 'हिंदी प्रदेश में ललित कला' विषय पर राकेश श्रीमाल के संचालन में चर्चा हुई। बहस पर अपनी अध्यक्षीय टिप्पणी में कला मर्मज्ञ विजयशंकर ने कहा कि ललित कला की सारी विधाओं जैसे- चित्रकारी, संगीत, थिएटर में आज सांस्कृतिक संकट की स्थिति है। सत्र में हुई बहस के दौरान गोपाल शर्मा, विपिन चौधरी, आनंद सिंह, राजकुमार कामले ने भी अपने विचार व्यक्त किए।

5 फरवरी

अंतिम दिन 'हिंदी में अनुवाद' विषय पर आयोजित चर्चा के दौरान विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति प्रो. जी. गोपीनाथन ने कहा कि एशिया में सबसे पहले अनुवाद एवं निर्वचन जैसा महत्वपूर्ण विषय इस विश्वविद्यालय में शुरू किया गया। उन्होंने कहा कि अनुवाद एक ऐसा विषय है, जिसकी हमारी मातृभाषा में उपेक्षा हो रही है। विशेषकर भारत में अनुवाद शून्य की अवस्था में है। अनुवाद को हमेशा निम्न स्तर का बताने का कार्य किया जाता रहा है जो कि बहुत ही गलत है। उन्होंने कहा कि जब तक अनुवाद को मुख्यधारा से जोड़ा नहीं जाएगा, तब तक साहित्य का भी विकास नहीं हो सकेगा।

कवि अनुवादक एवं दुनिया इन दिनों के संपादक सुधीर सक्सेना ने विस्तार से अनुवाद की भूमिका और उसकी सार्थकता पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि हिंदी साहित्य में अनुवाद के प्रति सदभावना का माहौल नहीं रहा है। उन्होंने बांग्ला, उर्दू जैसी भाषाओं से हिंदी में हुए अनुवाद एवं लेखकों की चर्चा की। कार्यक्रम में अनुवादक सुलभा कोरे ने कहा कि अनुवाद करते समय लक्ष्य अनुवादक का मुख्य लक्ष्य भाषा तक पहुंचना होता है। जिस प्रकार साहित्य समाज का दर्पण होता है ठीक उसी प्रकार अनुवाद भी समाज को जोड़ने का कार्य करता है। अंग्रेजी से हिंदी में बहुत अनुवाद हुआ है पर अभी देश में कई भाषाएं हैं जिनका अनुवाद हमें करना चाहिए, तभी हिंदी को और भी समृद्ध कर सकते हैं। एसोसिएट प्रोफेसर व अनुवाद एवं निर्वचन विद्यापीठ की अध्यक्ष डॉ. सी. अन्नपूर्णा ने अनुवाद और हिंदी से जुड़े कई सवालों को उठाया। उन्होंने साहित्य को आगे बढ़ाने के लिए अनुवाद कैसे किया जाए, यंत्र के जरिए हम कैसे अनुवाद करें आदि पर प्रकाश डाला। सहायक प्रोफेसर हरप्रीत कौर ने 'रचनाकार के भीतर का अनुवादक और अनुवादक के भीतर का रचनाकार' शीर्षक एक लेख पढ़ा। सुश्री माद्री ने अनुवाद के क्षेत्र में कापीराइट की चर्चा की। प्रो. देवराज ने कहा कि भाषा में जातीयता और ज्ञान आदि के साथ हिंदी में अनुवाद बड़ी चिंता का विषय है। सत्र का संचालन अनुवाद एवं निर्वचन विद्यापीठ के सहायक प्रोफेसर रामप्रकाश यादव ने किया।

साहित्य का मतलब सिर्फ कविता या कहानी नहीं : अजय तिवारी

कार्यक्रम के अंतिम दिन सआदत हसन मंटो कक्ष में 'हिंदी में इतिहास और समाजशास्त्र' विषय पर जोरदार बहस हुई। सत्र की अध्यक्षता कर रहे प्रख्यात आलोचक अजय तिवारी ने कहा कि लेखक, कवि अपनी एक दुनिया बनाता है। जब साहित्य का जन्म ही असंतोष से होगा तो उसका विरोध

भी किया जाएगा। साहित्य का मतलब सिर्फ कहानी या कविता नहीं है, बल्कि सारा हिंदी वाङ्मय है। उन्होंने अपनी विस्तृत टिप्पणी में इतिहास और समाजशास्त्र के अंतर्संबंधों का स्पष्ट किया। साहित्य विद्यापीठ के सहायक प्रोफेसर अरुणेश नीरन शुक्ल के संचालन में हुई बहस में जितेंद्र गुप्ता, मनोज मिश्र, रविकांत, प्रेम सिंह ने भी अपने विचार व्यक्त किए। एक अन्य सत्र में 'हिंदी में तकनीकी और वैज्ञानिक लेखन' विषय पर चर्चा हुई, जिसमें श्रीधर हेगड़े, डा. किशोर वासवानी, अभिनव सिद्धार्थ तथा अहिंसा एवं शांति अध्ययन विभाग के एसोसिएट प्रोफेसर व अध्यक्ष डा. नृपेंद्र प्रसाद मोदी ने हिस्सा लिया। वक्ताओं का मानना था कि स्वप्न और चिंतन की भाषा बने हिंदी। सत्र का संचालन विश्वविद्यालय के हिंदी अधिकारी राजेश यादव ने किया।

नज़ीर हाट का उदघाटन

'हिंदी का दूसरा समय' के पहले दिन सायं आनंद हर्षुल, चंदन पांडेय, हुस्न तबस्सुम निहां का कहानी पाठ और बद्रीनारायण का कविता पाठ आयोजित किया गया। दूसरे दिन सायं 'लेखक से मिलिए' कार्यक्रम के अंतर्गत काशीनाथ सिंह से पाठकों ने बातचीत की। इसी शाम अजित पुष्कल लिखित नाटक 'भारतेंदु चरित' की प्रस्तुति विश्वविद्यालय के छात्र रंगमंडल द्वारा की गई। कार्यक्रम के तीसरे दिन 3 फरवरी को सायं एक सांस्कृतिक संध्या का आयोजन हुआ। वरिष्ठ साहित्यकार से. रा. यात्री ने विश्वविद्यालय में नवनिर्मित नज़ीर अकबराबादी हाट का उदघाटन किया। इस हाट का नाम मशहूर शायर नज़ीर अकबराबादी के नाम पर रखा गया है। सांस्कृतिक संध्या के दौरान मुख्य अतिथि के रूप में कुलपति विभूति नारायण राय उपस्थित थे। साहित्य विद्यापीठ के अध्यक्ष प्रो. के. के. सिंह के संचालन और वरिष्ठ कवि शेरजंग गर्ग की अध्यक्षता में एक सांस्कृतिक संध्या का आयोजन हुआ, जिसमें विजय किशोर मानव, अरविंद चतुर्वेद, मिथिलेश श्रीवास्तव, मुन्नी गंधर्व, हरप्रीत कौर, अमरेंद्र कुमार शर्मा, अर्चना त्रिपाठी, महेंद्र गगन, दिनेश कुमार शुक्ल, उपेंद्र कुमार, अनुज लुगुन, विपिन चौधरी, बलराम गुमास्ता, राकेश श्रीमाल, शशिभूषण सिंह, कुमार वीरेंद्र सहित कई कवियों ने अपनी कविताएं पढ़ीं। संध्या के दौरान प्रह्लाद अग्रवाल दंपति ने नज़ीर अकबराबादी की गजलों को गाकर प्रस्तुत किया। चौथे दिन शाम को नाट्यकला एवं फिल्म अध्ययन विभाग के विद्यार्थियों द्वारा 'दर्शन' नाटक का मंचन किया गया।

आज मूल्यों का संकट : रघु ठाकुर

'हिंदी का दूसरा समय' कार्यक्रम के समापन समारोह में हिंदी प्रदेश की राजनीति और प्रगतिशीलता पर अपने विचार रखते हुए मुख्य अतिथि और प्रख्यात समाजवादी चिंतक रघु ठाकुर ने कहा कि आज मूल्यों का संकट है। शिक्षा का बाजारीकरण हो गया है, पैसे का बोलबाला है। समाज में यह स्थिति पैदा हो गई है कि आज कोई भी मां अपने बेटे को भगत सिंह और बेटी को लक्ष्मीबाई नहीं बनाना चाहती। उन्होंने कहा कि हमें जाति शब्द से परेशानी होती है चाहे वह भाषा की जाति हो या अन्य प्रकार की। इसे मिटाने के लिए हमें आज के समय में कबीर से सीख लेनी चाहिए।

रघु ठाकुर ने कहा कि जिस समय लोहिया ने देश में आंदोलन को संभाला था उस समय जाति और लिंग के बंटवारे से मुक्ति पाने की बात की थी, क्या इससे बड़ी प्रगतिशीलता की कोई और बात हो सकती है? हिंदी भाषी राजनीति का उल्लेख करते हुए रघु ठाकुर ने कहा कि नवसामंतवाद, नव-ब्राह्मणवाद जैसी कई बीमारियां हिंदी राजनीति में पैदा हो गयी हैं, जिससे हमें

बचाने का प्रयास करना होगा। कथाकार प्रेम कुमार मणि ने कहा कि हिंदी पट्टी में गतिशीलता और राजनीति पर आंकलन करना ही होगा। 'हिंदी नवजागरण' के बारे में श्री मणि ने कहा कि इसकी चर्चा सबसे पहले डॉ. रामविलास शर्मा के यहां मिलती है। उनका कहना था कि गांधीजी ने हिंदी पट्टी वालों से पूछा था कि आपके यहां कोई टैगोर क्यों नहीं हुआ। गांधीजी के इसी सवाल में हिंदी की गतिशीलता का सवाल भी छिपा हुआ है। हिंदी का दूसरा समय को लोकप्रियता और प्रगतिशीलता से जोड़ते हुए राजेंद्र राजन ने भी अपनी बात डॉ. रामविलास शर्मा के हवाले से कही। डॉ. प्रेम सिंह ने जायसी की पक्तियों का उल्लेख कर कहा कि प्रगतिशीलता ने दो तरह की राजनीति पैदा की है, यह कुछ को बाहर कर देती है और कुछ को अपने साथ शामिल कर लेती है। समापन समारोह की अध्यक्षता कर रहे विश्वविद्यालय के प्रति कुलपति प्रो. ए. अरविंदाक्षन ने कहा कि इन पांच दिनों में आए विद्वानों के बीच से बहुत सार्थक विचार आए। 'हिंदी का दूसरा समय' इस मामले में भी सार्थक कहा जाएगा कि इस बृहद आयोजन में देश भर के साहित्यकारों ने शिरकत कर, इसे सफल बनाया। उन्होंने कहा कि इस कार्यक्रम में ऐसा कुछ है जो हमें आगे चलने के लिए प्रेरित कर रहा है। उन्होंने इच्छा जाहिर की कि तीसरे समय में हम आम लोगों के लिए हिंदी में सामग्री उपलब्ध कराने की कोशिश करें, ताकि उनको कुछ ऐसा दिया जा सके, जिससे एक नई सोच और वैचारिकता विकसित हो सके। संयोजक राकेश मिश्र ने कहा कि 'हिंदी का दूसरा समय' जैसा कि अपने नाम से ही स्पष्ट है कि हिंदी में यह दूसरी परंपरा और इसके विस्तार से संबंधित है। पांच दिनों तक चले इस कार्यक्रम के दौरान हिंदी के सामर्थ्य के साथ-साथ इसकी कमजोरियों पर भी व्यापक चर्चा हुई। संयोजक राकेश मिश्र ने इस विशाल आयोजन को सफल बनाने के लिए देश भर से पहुंचे साहित्यकारों, पत्रकारों, आंदोलनकारियों और राजनीतिक चिंतकों के प्रति आभार व्यक्त किया। 'हिंदी का दूसरा समय' की रूपरेखा इस तरह की रखी गई थी, जिसमें हर दिन सायं समाहार सत्र में प्रतिभागियों को समानांतर सत्रों के दौरान हुई चर्चा की जानकारी दी जाती। कार्यक्रम को मूर्त रूप देने में विश्वविद्यालय के कुलसचिव डा. कैलाश खामरे, वित्ताधिकारी संजय भास्कर गवई की विशेष भूमिका रही। परिसर विकास विभाग, वित्त विभाग, मीडिया, परिवहन एवं आयोजन समिति के सदस्यों ने पूरी जिम्मेदारी के साथ अपने कर्तव्य का निर्वहन किया। आयोजन, जिन साहित्यकारों की उपस्थिति से गुलजार रहा, उनमें वरिष्ठ कथाकार से.रा. यात्री, गंगा प्रसाद विमल, प्रेमपाल शर्मा, हरि भटनागर, राजेंद्र उपाध्याय, कमल, गोविंद सिंह, सत्येंद्र प्रकाश, मुकेश वर्मा, मनोज मोहन, जयप्रकाश धूमकेतु, प्रो. संतोष भदौरिया, प्रकाश त्रिपाठी, आशुतोष एवं विश्वविद्यालय परिवार के समस्त कर्मियों की उपस्थिति मुख्य रही।

लेखकों के पते :

इंद्र नाथ चौधुरी : 183 टैगोर नगर, दिल्ली-110009

सच्चिदानंद सिन्हा : ग्राम पो. मनिका मुजफ्फरपुर-834119

कर्मंदु शिशिर : 38/9 न्यू पुनाईचक, दुर्गा आटा चक्की मील, शास्त्रीनगर, पटना-23
मो.- 9431221073

प्रदीप जैन : 46-बी, नई मंडी, मुजफ्फरनगर- 251001 (उप्र) मो. - 9410063793

से.रा. यात्री : एफ ई-7, नया कविनगर, गाजियाबाद-201002 (उप्र)

मो. - 9810604535

राजेंद्र उपाध्याय : बी-108 पंडारा रोड, नई दिल्ली-110003 मो.नं.- 9953320721

शिवनारायण : 305 अमन अपार्टमेंट, शांति निकेतन कालोनी, भूतनाथ रोड,
पटना-800026 (बिहार) मो. - 9334333509

शैलेंद्र कुमार सिंह : स्थानीय संपादक प्रभात खबर, सेकेंड फ्लोर, यूबी टावर, सरैयागंज
मुजफ्फरपुर-842001 (बिहार)

राकेश मिश्र : सहायक प्रोफेसर, अहिंसा एवं शांति अध्ययन विभाग, महात्मा गांधी
अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)

मो.- 9970251140

बलराम अग्रवाल : एम-70, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 मो.-9968994431

आग्नेय : बी-207 चिनार, वुडलैंड कोलार रोड, भोपाल- 462016 (मप्र)

मो.- 9303139295

उमेश चौहान : डी-1 / 90 सत्य मार्ग, चाणक्यपुरी, नई दिल्ली-110021

मो. - 8826262223

रमणिका गुप्ता : संपादक : युद्धरत आम आदमी, ए-221 ग्राउंड फ्लोर, डिफेंस कालोनी,
नई दिल्ली-110024, फोन- 46577704

शशि नारायण स्वाधीन : संपादक : हिंदी संवाद सेतु, 150/4 एलआईजी 4 फेज
के.पी.एच.बी. कालोनी, हैदराबाद-500072 (आंध्रप्रदेश) मो. - 9849512747

विजय मोहन शर्मा : सी-358, विकासपुरी, नई दिल्ली- 110018 मो. 09810018167

शंभु गुप्त : एसोसिएट प्रोफेसर, स्त्री अध्ययन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी
विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र) मो.- 08600552663

माधव हाड़ा : बी-404 सिल्वर स्क्वायर, न्यू विद्यानगर, हिरणमगरी सेक्टर नं. 4, उदयपुर
(राजस्थान) मो.- 09414325302

संजय द्विवेदी : 428 रोहित नगर फेज-एक, भोपाल-462039, मो.नं. 09893598888

संजीव : अतिथि लेखक, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स,
वर्धा (महाराष्ट्र) मो.- 09960082612